विद्धशालभञ्जिका

प्रकाश-हिन्दी-व्याख्योपेता

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी - १

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला

महाकविश्रीराजशेखरविरचिता

विद्धशालभञ्जिका

'प्रकाश' हिन्दी व्याख्योपेता

व्याख्याकार:—

पं० रमाकान्त त्रिपाठी

पी-एच० डी० (स्कालर)

संस्कृत विभाग : लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक : चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी

संस्करण : प्रथम, वि० संवत् २०२१

मूल्य संशोधित मूल्य

Phone : 3076

THE

VIDYABHAWAN SANSKRIT GRANTHAMALA

125

VIDDHAS'ĀLABHAÑJIKĀ

OF

RĀJAS'EKHARA

EDITED WITH THE PRAKĀSA HINDĪ COMMENTARY

BY

RAMĀKĀNTA TRIPĀTHĪ
Ph. D. (Scholar), Sanskrit Department,
Lucknow University,
Lucknow.

THE
CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI-1
1965

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers and Antiquarian Book-Sellers

POST BOX 8, VARANASI-1 (India) PHONE : 3145

भूमिका

काव्य : दृश्य एवं श्रव्य

संस्कृत अलंकारशास्त्रियों में वामन सर्वप्रथम एवं अग्रगण्य हैं जिन्होंने ग्रन्थ-रचना में रूपक (दृश्यकाव्य) को श्रेष्ठ माना है। अपने में पूर्ण होने से चित्र की तरह रूपक आश्चर्यजनक होता है। चित्रवत्ता के कारण ही दृश्यकाव्य श्रेष्ठ है। यह रूपक ही है जिससे कथा, आख्यायिका एवं महाकाव्य आदि निःसृत हैं[1]।

रूपक अपने में पूर्ण है, आख्यायिका और महाकाव्य आदि इसी के रूप परिवर्तन हैं। रूपकों को अधिक श्रेय देने का वामन ने एक ही कारण दिया है। रूपक प्रत्येक वस्तु में वर्तमान रहने से पूर्ण है, अतः रूपक चित्र के समान विचित्र है। परन्तु रूपक का चित्र के साथ तुलना करने में क्या महत्त्व है ? विशेष साकल्य का क्या अर्थ है ? इसको वामन ने समझाने का प्रयत्न नहीं किया है। वे विशेषताएँ क्या हैं, जो महाकाव्य एवं आख्यायिका आदि में नहीं प्राप्त होतीं, परन्तु जो रूपक में वर्तमान हैं, इन सब प्रश्नों को वामन ने विस्तृत रूप में समझाने का अल्प प्रयास भी नहीं किया है।

वामन के मत का अनुसरण करते हुए संस्कृत साहित्य एवं दर्शन के प्रौढ़ विद्वान एवं आलोचक अभिनवगुप्त ने नाटक को रसास्वाद की दृष्टि से अन्य की अपेक्षा पूर्ण माना है। अभिनवगुप्त का कथन है कि जहाँ तक रस के आनन्द का—रसास्वाद का—सम्बन्ध है, मुक्तक में उतना आनन्द नहीं आता है, क्योंकि विभाव एवं अनुभाव आदि का वर्णन इसमें नहीं होता है। अतः एक पूर्ण प्रबन्ध में ही सम्यक् रूप से रसास्वाद की प्राप्ति सम्भव है। ब्रह्मानन्द

---

१. सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्। ततोऽन्यभेदक्लृप्तिः। ततो दशरूपकादन्येषां भेदानां क्लृप्तिः कल्पनमिति। दशरूपकस्य हि इदं सर्वं विलसितं कथाख्यायिके महाकाव्यमिति। (काव्यानुशासन सूत्र और विवृति १२—३०, ३२)

स्वाद सहोदर रस का आनन्द प्रबन्ध काव्य की अपेक्षा नाटक से ही होता है, यह जब मञ्च पर प्रस्तुत किया जाता है[१]। वेष-भूषा, चाल-ढाल और प्रवृत्ति आदि का काव्य में केवल वर्णन मात्र होता है। परन्तु नाटक में सामाजिक प्रत्यक्ष रूप से इन सबको चक्षु इन्द्रियों से देखता है। अतः रसास्वाद का अन्तिम उत्कर्ष नाटक से ही प्राप्त होता है। नाटक की अपेक्षा कम रसास्वाद महाकाव्य से प्राप्त होता है। सबसे कम रसास्वाद मुक्तक से होता है[२]।

यद्यपि अभिनवगुप्त ने भाषा, वेष आदि की प्रत्यक्षता के कारण दृश्य का अविलम्ब प्रभाव स्वीकार किया है, फिर भी श्रव्यकाव्य में इसकी योजना का अभाव प्रमाणित नहीं होता है। अभिनवगुप्त ने स्पष्टरूप से इस बात का उल्लेख किया है कि काव्यानुभूति सहृदय से सम्बन्धित है। सहृदय ने यदि काव्य का अनुशीलन कर लिया है, जिसके कुछ प्राक्तन संस्कार हैं तो भाव आदि के उन्मीलन के द्वारा काव्य के विषय का साक्षात्कार किया जा सकता है।[३] कहने का सारांश यह है कि यदि दृश्यकाव्य समस्त बातों को प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित कर देता है तो श्रव्यकाव्य में इसकी उपस्थिति के लिए सहृदय की कल्पना अपेक्षित है।

अभिनवगुप्त के बाद 'शृंगार प्रकाश' और 'सरस्वतीकण्ठाभरण' के रचयिता भोज ने कवि और काव्य को नट और अभिनय की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है। भोज ने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ से ही इस बात का उल्लेख किया है कि रसास्वादन सामाजिक व श्रोतागण के द्वारा तभी किया जाता है, जब वह

---

१. तच्च (रसास्वादोत्कर्षकारकं विभावादीनां सम्प्राधान्यम्) प्रबन्ध एव भवति। वस्तुतस्तु दशरूपक एव। यदाह वामनः—सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्। (अभिनव भारती, षष्ठ अध्याय, पृ. २८७)

२. तद्रूपरसचर्वणया तु प्रबन्धे भाषावेषप्रवृत्त्यौचित्यादिकल्पनात्, तदुपजीवनेन मुक्तके। (अभिनव भारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २८७)

३. तेन ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुबलादिति सहृदयास्तेषां परिमितविभावाद्युन्मीलनेऽपि परिस्फुट एव साक्षात्कारकल्पः काव्यार्थः स्फुरति। अतएव तेषां काव्यमेव प्रीतिव्युत्पत्तिकृदनपेक्षितनाट्यमपि। (अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २८७)

एक प्रवीण नट के द्वारा अभिनीत होता है या प्रबन्ध काव्य में महाकवि के द्वारा वर्णित होता है। किसी पदार्थ के श्रवण मात्र से जितना आनन्द आता है, उतना उस पदार्थ के साक्षात्कार करने पर नहीं। इसीलिये भोज ने कवि को नट की अपेक्षा उच्च स्थान प्रदान किया है एवं काव्य को अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है[१]।

संस्कृत अलंकारशास्त्र में नाटककार के लिए अन्य शब्द नहीं प्रयुक्त होता है। नाटककार को भी कवि ही कहा जाता है। नाटक को भी 'काव्य' ही नाम से सम्बोधित करते हैं। भोज का यहाँ यह कथन कि कवि और काव्य को नट एवं अभिनय की अपेक्षा अधिक महत्त्व देना चाहिए, अभिनवगुप्त के मत से सूक्ष्म विरोध प्रकट करता है। भोज के अनुसार नाट्यकार कवि का, जिसने रस के आनन्द के लिए काव्य लिखा है—जिसमें आनन्द प्राप्त करने के लिए नट के योग की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती, नट की अपेक्षा विशेष महत्त्व है—जो (नट) रङ्गमञ्च पर सामाजिक के समक्ष अभिनयों के द्वारा उसे अभिनीत करता है। यहाँ काव्य का तात्पर्य नाट्यकी पाठ्य पुस्तक से है। नाटक को दृश्य काव्य की भी संज्ञा दी गई है। नाटक का जब तक रङ्गमञ्च पर प्रदर्शन नहीं किया जाता है—जब नाटक के अध्ययन से ही आनन्द की प्राप्ति होती है, तब न नाटक काव्य ही कहा जाया करता है। भोज ने कवि और काव्य का जो प्रयोग किया है, वह नाटककार और उसके 'नाटक' के लिए ही है। भोज इन्हीं को नट और उसके अभिनयों की अपेक्षा विशेष महत्त्व देते हैं।

---

१. स (रसः) च अनुभवैकगम्यत्वाद् असर्वविषयत्वाच्च दुरवसेयः। सम्यगभिनयेषु वा विदग्धशैलूषैः प्रदर्श्यमानः सामाजिकैश्च धार्यते। प्रबन्धेषु वा महाकविभिः यथावद् आख्यायमानः विदुषां मनीषा विषयमवतरति। तत्र न तदा पदार्थाः प्रतीयमानाः स्वदन्ते, यथावग्मिनां वचोभिरावेद्यमानाः। तदाह—

'अत्थणिवेसा णवि तह चित्तविआसं कुणन्ति सच्चेविआ।
जह उणते उमिल्लन्ति सुकवियआहिं सुसीसंता॥
अतोऽभिनेतृभ्यः कवीनेव बहुमान्यामहे अभिनयेभ्यश्च काव्यमेवेति।

(शृंगारप्रकाश, चतुर्थप्रकाश ३-४)

काव्य में अनुभाव एवं विभावों का वर्णन रहता है। इन्हींको रङ्गमञ्च पर प्रयोग करने के कारण नाट्य कहा जाया करता है[१]। नाट्य जब अभिनीत किया जाता है, तब हमें प्रत्यक्ष साक्षात्कार होता है। इसके विपरीत काव्य में कवि की अद्‌भुत वर्णनाशक्ति भी किसी पदार्थ के स्वरूप का जीता-जागता चित्रण कर देती है। यही नाट्य और काव्य में सूक्ष्म अन्तर है। अतः एक सहृदय सामाजिक के लिए नाट्य—जिसका अभिनय न हो रहा हो एवं काव्य में कुछ भी भेद नहीं है। एक उत्कृष्ट नाटक के लिए नट एवं नाट्यशाला की कोई आवश्यकता नहीं है। सामाजिक पढ़ने से ही आत्मविभोर हो जायगा। पुनः जहाँ तक नाट्य (दृश्य) एवं काव्य (श्रव्य) इन दोनों की मार्मिकता का प्रश्न है, वहाँ भी परस्पर कोई भेद नहीं है। यदि दृश्य काव्य के मनोहर दृश्य दर्शक के मानस पटल पर सदैव के लिए अङ्कित हो जाते हैं, तो श्रव्य काव्य की मनोहर पंक्तियाँ भी सहृदयों के कण्ठ में सदैव के लिए विराजमान हो जाया करती हैं।

नाटिका

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 'नाटिका' का उल्लेख 'नाटी' नाम से किया है। इनके अनुसार 'नाटी' की उत्पत्ति 'नाटक' और 'प्रकरण' के योग से हुई है। अभिनवगुप्त ने भरतमुनि के 'नाटी' सम्बन्धी लक्षणों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि आचार्य के अनुसार नाटिका में दो नायिकाएँ होनी चाहिए—एक 'स्वकीया' जो देवी होती है और दूसरी उच्चकुल की सुन्दरी होती है।

रामचन्द्र-गुणचन्द्र के अनुसार नाटिका चार अङ्कों की होती है। इसमें स्त्री पात्रों की बहुलता के साथ शृंगार रस की प्रधानता रहती है। अतएव कैशिकी वृत्ति का प्राधान्य होना स्वाभाविक ही है। स्त्री पात्रों में देवी, दूती, सखी, चेटी एवं कन्या आदि का समावेश होता है। इसका नायक धीरललित होता है, अतएव सर्वत्र राज्योचित व्यवहार का प्रदर्शन होता है। नाटिका का फल स्त्री-

---

१. अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते।
तेषामेव प्रयोगस्तु नाट्यं गीतादिरञ्जितम्॥

(व्यक्तिविवेक में उद्‌धृत)

लाभपूर्वक राज्य-प्राप्ति है[१]। कन्या और देवी एक साथ ही इस रूपक की नायिका होती हैं। 'देवी' को वयोवृद्धा, मानिनी, दक्षा और चतुरा के रूप में चित्रित करना चाहिए। कन्या को मुग्धा एवं अपूर्व सुन्दरी के रूप में प्रदर्शित करना चाहिए। क्षत्रियवंशजत्व, नय, विनय, लज्जा, महत्त्व एवं गाम्भीर्य आदि धर्म दोनों में चित्रित किया जाना चाहिए। प्रायः कन्या के प्रति अनुराग को जान लेने पर 'देवी' राजा पर क्रोध का प्रदर्शन करती है। राजा उसको प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है। राजा और कन्या परस्पर रति का प्रदर्शन करते हैं। इस प्रकार नाटिका में शृंगाररस के अङ्गों का बार बार निबन्धन किया जाता है[२]।

कन्या और देवी के प्रसिद्ध एवं अप्रसिद्ध होने से नाटिका के चार भेद होते हैं—(१) देवी अप्रसिद्धा, कन्या प्रसिद्धा, (२) देवी अप्रसिद्धा, कन्या अप्रसिद्धा, (३) देवी प्रसिद्धा, कन्या अप्रसिद्धा और (४) देवी प्रसिद्धा, कन्या प्रसिद्धा[३]।

आमुख

जहाँ सूत्रधार, विदूषक, नटी या मार्ष के साथ वार्तालाप करते हुए वक्रोक्ति (साक्षात् विवक्षित अर्थ का अप्रतिपादक) और स्पष्टोक्ति (साक्षात् विवक्षित अर्थ का प्रतिपादक) के द्वारा प्रस्तुत कार्यार्थ के उपक्षेपक को व्यक्त करे, वहाँ आमुख होता है। इसे प्रस्तावना के नाम से भी अभिहित किया जाता है[४]।

---

१. चतुरङ्का बहुस्त्रीका नृपेशा स्त्री महीफला।
कल्यार्या कैशिकी मुख्या............
(नाट्यदर्पण पृ० १०६)

२. देवी दक्षाऽपरा मुग्धा, समा धर्मों द्वयो पुनः।
क्रोधप्रसादमत्यूहरतिच्छद्मादिभूरिशः॥
(नाट्यदर्पण, पृ० १०७)

३. अख्यातिख्यातितः कन्या देव्योर्नाटी चतुर्विधा॥
(नाट्यदर्पण पृ० १०८)

४. विदूषकनटीमार्षैः प्रस्तुताक्षेपि भाषणम्।
सूत्रधारस्य वक्रोक्त-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम्॥
(नाट्यदर्पण पृ० १३६)

हमारे देश में रूपक के प्रारम्भ में प्रस्तावना देने की प्रथा रही है। वैसे तो पूर्वरङ्ग के पाठ्य आदि कई भेद हैं किन्तु उनमें से प्ररोचना एवं नान्दी का ही विशेष महत्त्व है। क्योंकि पूर्वरंग के कुछ अंग या तो निष्फल हैं अथवा उनका प्रयोग अवश्यम्भावी नहीं है। प्रायः सभी कवियों के द्वारा ईप्सित ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिए आरम्भ में आशीर्वचनात्मक एवं नमस्कारात्मक स्तुति की जाती है, इसी को नान्दी कहते हैं। यह नमस्कारात्मक स्तुति देव, द्विज एवं नृप आदि के प्रति की जाती है[१]। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन्' में नान्दी का निम्न स्वरूप दिया है—

(i) शंकर के बैल नन्दी ने सृष्ट्यारम्भ में नृत्य करते हुए कल्पना के योग से रंगता प्राप्त कर ली थी। इसलिए उस रूप के सम्बन्ध से रूपक के प्रारम्भ में देवता आदि को नमस्कार या मंगलारम्भ किया जाता है, वह 'नान्दी' है।

(ii) अथवा जो क्रिया सामाजिकों को प्रसन्न करे, वह 'नान्दी' है।

(iii) अथवा पूर्वरंग के सम्बन्ध से नाट्यारम्भ में प्रसन्नार्थ बाईस अंगों वाली क्रिया को 'नान्दी' कहते हैं[२]।

प्रायः कवि ही नान्दी का पाठ करता है। इसीलिए नाटक में 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का प्रयोग मिलता है। इसके विपरीत जहाँ कवि नान्दी नहीं करता है अपितु सूत्रधार एवं स्थापक व पारिपार्श्विक ही नान्दी करते हैं, वहाँ 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' का प्रयोग नहीं किया जाता।

आमुखाङ्गभूतनाट्यपात्रप्रवेशविधिः—पात्र (मुख्य नायक आदि की भूमिका धारण करने वाले नट आदि) के मञ्च पर प्रथम समय प्रवेश करने की अनेक विधियाँ हैं। कहीं समान इतिवृत्त वाले वाक्य को लेकर उसी के समान इतिवृत्त वाले वाक्य को लेकर उसी के समान उक्ति का प्रयोग करते हुए पात्र प्रवेश करते हैं। कहीं समान वाक्यार्थ को लेकर पात्र मञ्च पर प्रवेश

---

१. आशीर्वचनसंयुक्ता नित्यं यस्मात् प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥

(नाट्यशास्त्र ५-२४),

२. भावप्रकाशन् , सप्तम अधिकार, पृष्ठ १९६।

करता है। कहीं काल (ऋतु आदि) का वर्णन करते हुए श्लेष से किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाती है और कहीं पर आह्वान के द्वारा (यह वह आ रहा है, इस प्रकार के वचनों द्वारा) पात्रों का मञ्च पर प्रवेश कराया जाता है।

वृत्त

वृत्त दो प्रकार का होता है—मुख्य और प्रासंगिक। प्रबन्ध में सर्वव्यापक होने के कारण इष्ट फल से युक्त प्रधानवृत्त मुख्यवृत्त कहा जाता है। अंग वृत्त प्रासंगिक वृत्त कहा जाता है। यह वृत्त मुख्य वृत्त का अनुयायी होने के कारण इसका अवयव है। कोई वृत्त स्वभावतः ही मुख्य या प्रासंगिक की संज्ञा को नहीं प्राप्त करता है अपितु समस्तफलों में कवि के विशेष रूप से अभिप्रेत फल से युक्त वृत्त को मुख्य वृत्त कहते हैं। इससे व्यतिरिक्त प्रासंगिक वृत्त होता है। दशरूपककार के अनुसार जो वृत्त दूसरे प्रयोजन के लिए होता है किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं का भी फल सिद्ध होता है, वह प्रासंगिक, वृत्त है।[1] संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मुख्य वृत्त मुख्य फल से सम्बन्धित रहता है एवं प्रासंगिक वृत्त गौण फल से युक्त रहता है।

वृत्त का फिर से चार तरह का विभाजन होता है—सूच्य, प्रयोज्य, ऊह्य और उपेक्ष्य[2]। नीरस वृत्त का रंगमञ्च पर प्रदर्शन करना अनुचित है। इसी प्रकार सरस होने पर भी जो वृत्त रंगमञ्च पर प्रदर्शन के योग्य नहीं है, उसकी सूचना ही विष्कम्भक आदि के द्वारा दिलवानी चाहिए। प्रयोज्य वृत्त सूच्य के ठीक विपरीत है। नट सामाजिकों के सामने वाचिकादि अभिनयों के द्वारा प्रयोज्य का अभिनय करता है। जिस वृत्त का स्वयं वितर्क किया जाय, वह ऊह्य कहलाता है। व्रीडा आदि के जनक होने से जिसकी अवहेलना अथवा उपेक्षा कर दी जाय, वह उपेक्ष्य कहलाता है।

प्रयोज्य के अतिरिक्त इन सूच्य आदि वृत्तांशों की सूचना पाँच प्रकार के अर्थोपक्षेपकों द्वारा दी जाती है। ये अर्थोपक्षेपक निम्न हैं—विष्कम्भक, प्रवेशक,

---

१. प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः।
— (दशरूपक, प्रथम प्रकाश, १३)

२. सूच्यं प्रयोज्यमम्यूह्यम्, उपेक्ष्यं तच्चतुर्विधम्। (नाट्यदर्पण, पृष्ठ २७)

अङ्कास्य, चूलिका और अङ्कावतार। यहाँ हम प्रवेशक और विष्कम्भक का ही वर्णन करेंगे क्योंकि इन्हीं दोनों का ही प्रबन्ध में बहुलता से निरूपण होता है। विष्कम्भक दो प्रकार का होता है—शुद्ध एवं संकीर्ण। यदि भूतकालीन अथवा वर्तमान-कालीन वृत्त (अरञ्जक अथवा रञ्जक कैसा भी हो) का अभिनय एक दिन में असम्भव हो, तो वह प्रेक्षकों को साक्षात् उपलभ्यमान न हो सकेगा। अतएव अङ्क में उसका निबन्धन न करके समासरहित अथवा अदीर्घ समासयुक्त संस्कृत भाषा के माध्यम से मध्यम श्रेणी के पात्रों द्वारा अंक के आदि में सूचित करना चाहिए। ऐसा विष्कम्भक शुद्ध कहलाता है। अधम पात्रों के उपस्थित रहने से विष्कम्भक संकीर्ण हो जाता है। अधम पात्रों के रहने से संकीर्ण विष्कम्भक में प्राकृत का भी प्रयोग होता है। विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का रहना आवश्यक है, नहीं तो वह 'प्रवेशक' हो जायेगा। यह विष्कम्भक अंक के आदि में भी और दो अङ्कों के बीच में भी आ सकता है।

विष्कम्भक की सभी उपर्युक्त बातें प्रवेशक में पायी जाती हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि प्रवेशक में केवल अधमकोटि के पात्रों का ही प्रयोग होता है, जो प्राकृत बोलते हैं। यह दो अङ्कों के बीच में ही होता है। नाटक, प्रकरण, नाटिका और प्रकरणी में ही प्रवेशक और विष्कम्भक का प्रयोग करना चाहिए[1]।

वृत्त के पुनः निम्न भेद होते हैं—प्रकाश, स्वगत, अपवारित, जनान्तिक एवं आकाशोक्ति। जो वृत्त गोपनीय न होकर अपने से व्यतिरिक्त दूसरों के सुनने योग्य हो (अर्थात् रंगमञ्च पर उपस्थित पात्रों के भी सुनने योग्य हो) उसे 'प्रकाश' कहते हैं। जो दूसरों के लिए गोप्य अपने मन में ही स्थित रखने योग्य हो, उसे 'स्वगत' कहते हैं। जब उपस्थित व्यक्ति की ओर से घूमकर कोई रहस्य की बात की जाती है, तब वहाँ 'अपवारित' होता है। जब त्रिपताकाकर की मुद्रा से रंगमञ्च पर उपस्थित अन्य लोगों की ओट करके दो व्यक्ति इस प्रकार बातचीत करें कि उनसे व्यतिरिक्त अन्य व्यक्ति न सुनें, तब 'जनान्तिक'

---

१. एवं प्रवेशको नीचैः, परार्थः प्राकृतादिना ।
एतौ प्रभूतकार्यत्वात्, नाटकादि चतुष्टये ॥
(नाट्यदर्पण, पृ० ३५)

होता है। रंगमञ्च पर प्रविष्ट पात्र जहाँ दूसरे पात्र के बिना ही आकाश की ओर मुख करके स्वयं ही प्रश्न और प्रत्युत्तर करे, वहाँ आकाशोक्ति होती है[१]।

वृत्त में सुखावबोध होने के लिए परिमित पद्य और गद्य का होना श्रेयस्कर है। सामाजिकों को समासबहुल एवं कर्कश गद्य दुर्बोध होने के कारण रसास्वाद नहीं करा सकता है। वृत्त में श्लिष्ट प्रधान फल से ही सम्बद्ध अवान्तर कार्यों की योजना करनी चाहिए। रूपक में उन्हीं अवान्तर वृत्तों का आयोजन करना चाहिए जो प्रधानफल के साधक हों। नदी, समुद्र, सूर्योदय एवं चन्द्रोदय आदि का भी यथावसर वर्णन करना चाहिए। वसन्त आदि ऋतुओं का एवं मधुपान, जलक्रीडा आदि का भी वर्णन करना चाहिए। सभी रसों में केवल एक ही रस की प्रधानता होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य रसों को गौण स्थान मिलना चाहिए एवं अन्त में अद्भुत रस का भी समावेश करना चाहिए। श्लेष, उपमा एवं यमक आदि अलंकारों का भी निवेश करना उचित है। अंगभूत रस का नियोजन इस प्रकार होना चाहिए कि वह मुख्य रस का विरोध न कर पाए।

पहले कहे हुए या पूर्व प्रकाशित किए हुए वृत्त को यदि प्रयोजनवश पुनः कहने की आवश्यकता हो तो उसे कान में ही कहलाना चाहिए जिससे पुनरुक्त दोष न आ पाए। सकल प्रबन्ध में रसारोहणार्थ रञ्जक भावों का वर्णन करना चाहिए। नायक अथवा रस के विरुद्ध और अयुक्त वृत्त को या तो छोड़ देना चाहिए या उनमें उचित संशोधन कर देना चाहिए[२]।

अर्थ प्रकृति

अर्थ प्रकृतियाँ पाँच हैं—बीज, पताका, प्रकरी, बिन्दु व कार्य। रूपक के

---

१. प्रकाशं श्राव्यमन्येषा, स्वगतं स्वहृदि स्थितम्।
परावृत्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम्॥
त्रिपताकान्तरोऽन्येन, जल्पो यस्तज्जनान्तिकम्।
आकाशोक्तिः स्वयम्प्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रकम्॥
(नाट्यदर्पण, पृ० ३०)

२. अयुक्तं च विरुद्धं च नायकस्य रसस्य वा।
वृत्तं यत् तत् परित्याज्यं प्रकल्प्यमथवाऽन्यथा॥
(नाट्यदर्पण, पृष्ठ ३०)

प्रारम्भ में थोड़ा सा उद्दिष्ट वह तत्त्व जो रूपक के इतिवृत्त के मुख्य साध्य का उपाय है 'बीज' है। यह तत्त्व इतिवृत्त में धान आदि के बीज के समान पल्लवित होता है। जिस प्रकार कृषक वृक्ष एवं फल आदि की इच्छा से भूमि में बीज का निक्षेप करता है, उसी प्रकार नायक आदि पात्र भी धर्म, अर्थ एवं कामरूप फल के लिए आमुख के बाद बीज-वपन करता है। गम्भीर होने के कारण आरम्भ में बीज को सूक्ष्मरूप से निर्दिष्ट किया जाता है। अपने अर्थ में प्रवृत्त जो चेतन हेतु प्रधान के प्रयोजन को सम्पादित करता है उसे 'पताका' कहते हैं। स्वार्थ की अपेक्षा न करता हुआ एवं वृत्तैकदेशगत होता हुआ भी मुख्य नायक के प्रयोजन को सम्पादित करने वाला चेतन सहायक 'प्रकरी' कहा जाता है। जैसे वृक्ष की रक्षा के लिए छोटे-छोटे साधनों की आवश्यकता पड़ती है, उसी प्रकार नायक को भी धर्म, काम तथा अर्थरूप वृक्ष की रक्षा के लिए ऐसे ही छोटे-छोटे सहायकों की आवश्यकता पड़ती है, इन्हें ही 'प्रकरी' कहते हैं।

नाट्य में कुछ अनुष्ठानों के प्रति व्यवधान उपस्थित हो जाता है। ऐसी परिस्थिति में उस कार्य के सम्पादनार्थ नायक व प्रतिनायक आदि के अनुसन्धान को विनाशात्मक फल-लाभ के प्रति उपायभूत होने के कारण 'बिन्दु' कहते हैं। यथा बीज-वपन के बाद बिन्दु-निक्षेप करना पड़ता है, उसी प्रकार नाटक का नायक भी अपने धर्म, अर्थ एवं कामरूप फल के लिए 'बीज' वपन के अनन्तर बिन्दु निक्षेप करता है। 'बिन्दु' के रूप में नायक के प्रयत्नों का अभिव्यञ्जन होता है। यह 'बिन्दु' वृत्त में ठीक उसी तरह से प्रसारित होता है, जैसे तैलबिन्दु जल में प्रसारित होता है। बीज-सहकारी साधन समूह को 'कार्य' कहते हैं। धनिक आदि विद्वानों के अनुसार धर्म, अर्थ एवं काम रूप त्रिवर्ग पुरुषार्थ 'कार्य' हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी धनिक से सहमत हैं किन्तु यह मत ठीक नहीं है, क्योंकि इन विद्वानों के मतानुसार कार्य नामक अर्थप्रकृति स्वयं प्रयोजन है। फिर प्रयोजन उसका स्वसंसिद्धि हेतु कैसे बन सकता है?

अवस्था पञ्चक

नायक के प्रधान वृत्त में आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम

अवस्थाएँ अवश्य निबद्ध होती हैं[१]। किसी भी फल की प्राप्ति के लिए नायकादि में इच्छा होती है एवं उस फल के प्रति औत्सुक्य भी पाया जाता है। इसी फलौत्सुक्य को 'आरम्भ' कहते हैं[२]। मुख्य साध्य के प्रति यह विचार आना कि यह इसके द्वारा साध्य है, यही आरम्भ है। व्यापार में होने वाली त्वरा (चेष्टा) को प्रयत्न कहते हैं[३]। 'इस उपाय के बिना फल-प्राप्ति नहीं होगी' इस निश्चय से मन में जो उत्सुकता होती है, वही प्रयत्न है। इसके अन्तर्गत नायक या नायिका अपनी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने के व्यापार में संलग्न रहते हैं। औत्सुक्य मात्र का पाया जाना प्रारम्भ है, फल के लिए की गई चेष्टा यत्न है। यही प्रारम्भ और यत्न में भेद है।

हेतुमात्र से फल की किञ्चित् सम्भावना 'प्राप्त्याशा' है[४]। प्राप्त्याशा का विश्लेषण इस प्रकार किया जा सकता है—प्रधान फल के लाभ की आशा 'प्राप्त्याशा' है। इसमें फल-प्राप्ति के विषय में निश्चय नहीं होता क्योंकि फल अनेक विघ्नों एवं शंकाओं से युक्त रहता है। उपायों की सफलता से होने वाला कार्य-निर्णय 'नियताप्ति' है[५]। नियताप्ति में फल-प्राप्ति निश्चित हो जाती है। नायक के लिए साक्षात् रूप से अर्थात् अव्यवहित होने वाली इष्टार्थ की सम्भूति 'फलागम' है। धनञ्जय के अनुसार भी समस्तफल की प्राप्ति 'फलागम' है[६]।

सन्धि विचार

नाटक में कई कथांशों का निबन्धन रहा करता है। उन प्रत्येक कथांशों का प्रयोजन भी भिन्न-भिन्न ही हुआ करता है। एक ही प्रयोजन को लक्ष्य में

१. आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति फलागमाः।
नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात्॥ (नाट्यदर्पण, पृ० ४४)
२. फलायौत्सुक्यमारम्भः··· । (वही, पृ० ४४)
३. प्रयत्नो व्यापृतो त्वरा । (वही, पृ० ४५)
४. फलसम्भावना किञ्चित् प्राप्त्याशा हेतुमात्रतः। (वही, पृ० ४५)
५. नियताप्तिरुपायानां साकल्यात् कार्य निर्णयः। (वही, पृ० ४६)
६. समग्रफलसंपत्तिः फलयोगो यथोदितः।
(दशरूपक, प्रथम प्रकाश, २२)

रखकर जहाँ भिन्न-भिन्न कथांश परस्पर अन्वित कर दिए जाते हैं, वहाँ पर भिन्न-भिन्न कथांशों का अवान्तर प्रयोजन से समन्वित होना ही सन्धि है। साहित्य दर्पणकार के अनुसार एक प्रयोजन में अन्वित कथांशों के अवान्तर सम्बन्ध को 'सन्धि' कहते हैं[१]।

सन्धि शब्द का अर्थ है—सन्धान करना। नाटक के किसी भी कथानक का उचित रूप से निर्वाह करने के लिए उसको भागों में विभक्त कर देना चाहिए। इससे कथानक का सन्धान उचित रूप में हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्धियों का मुख्य उद्देश्य है—कथानक का उचित रूप में सन्धान करना। इसके अतिरिक्त सन्धि के कई अङ्ग भी हैं। रूपक में उनका भी नियोजन अत्यन्त उपादेय है। नाटक की रचना करते समय यदि नाटककार सन्धि के अङ्गों पर ध्यान देता है तो उसके लिए इष्ट अर्थ का समावेश सुगम हो जाता है। वह नाटक में सरलतापूर्वक एवं सुगमता के साथ अपने अभीष्ट अर्थों का समावेश कर सकता है। रूपक में बहुत सी बातें ऐसी हैं जिनका रंगमञ्च पर प्रदर्शन उचित नहीं माना गया है। सन्धि के अङ्गों का ध्यान रखने से उन निषिद्ध कथांशों का परित्याग भी सरलतापूर्वक किया जा सकता है। नाटककार के लिए जिस बात को प्रकट करना अभीष्ट है, उसे प्रकट करने के लिए भी नाटककार को सन्ध्यङ्गों का ध्यान रखना चाहिए। यदि नाटककार सन्ध्यङ्गों का ध्यान नहीं रखता तो बहुत सम्भव है कि वह किसी प्रकट करने योग्य वस्तु को भूल जाय। इसलिए भी सन्धि के अङ्गों का ध्यान रखना आवश्यक है। सन्धि के अङ्गों का एक प्रयोजन यह भी है कि इनसे दर्शकगण में नाटक के प्रति विराग नहीं उत्पन्न हो पाता, क्योंकि सन्ध्यङ्गों से रचना अत्यन्त सुगठित हो जाती है। रूपक में चमत्कार लाने के लिए भी सन्ध्यङ्गों की सहायता लेनी पड़ती है। सन्ध्यङ्गों का ध्यान रखने से वृत्तान्त क्षीण नहीं हो पाता है। कथा के प्रति लोगों में रुचि जाग्रत रहती है। सम्भवतः सन्ध्यङ्गों के इन्हीं उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुए भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में कहा है 'जिस प्रकार अंगहीन मनुष्य युद्ध के अयोग्य होता है, उसी प्रकार अंगहीन काव्य भी प्रयोग के लिए अनुपयुक्त ही

---

१. एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः।
(साहित्यदर्पण, षष्ठ परिच्छेद, पृ० ३३९)

रहता है[1] ।' किन्तु इन संध्यङ्गों का समस्त रूपकों में क्रमशः प्रयोग हो, यह आवश्यक नहीं है । यदि इन संधियों से एवं इनके अङ्गों से कथानक का निर्वाह ठीक रूप में हो जाता है, तब तो इनका प्रयोग करना चाहिए । वस्तुतः मुख्य बात तो यह है कि यदि नाटककार अपनी नाटक रचना पर स्वयं ध्यान दे तो सन्धि एवं सन्ध्यङ्ग उस नाटक में स्वयं ही आ जायँगे । परन्तु यदि कोई नाटककार सन्धि एवं सन्ध्यङ्ग के फेर में पड़कर नाटक-निर्माण में संलग्न रहेगा तब तो उसका नाटक, नाटक न होकर सन्धि एवं सन्ध्यङ्ग की उदाहरणमाला बन जायेगा । इसलिए यदि सन्धियों से कथानक में व्याघात उपस्थित हो तो इन संधियों का यथास्थान परित्याग भी कर देना चाहिए ।

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श और निर्वहण ये पाँच सन्धियाँ हैं । ये पाँच सन्धियाँ प्रारम्भ आदि अवस्थाओं से अनुगत रहती हैं । मुखसन्धि में प्रारम्भावस्था, प्रतिमुख सन्धि में यत्न, गर्भसन्धि में प्राप्त्याशा, अवमर्श में नियताप्ति और निर्वहण सन्धि में फलागम का सन्निवेश रहता है । इन पाँचों सन्धियों में मुख और निर्वहण संन्धियों की मुख्यता है, क्योंकि प्रतिमुख, गर्भ एवं अवमर्श सन्धियों का यथावसर परित्याग भी किया जा सकता है । जब तक हम रूपक में आरम्भावस्था का वर्णन नहीं करेंगे नाटक प्रारम्भ ही नहीं हो सकता । यदि हम फलप्राप्ति का प्रदर्शन नहीं करते, नाटक अधूरा ही रहेगा । प्रारम्भ और फलप्राप्ति इन दो अवस्थाओं के वर्णन करने का तात्पर्य है कि मुख और निर्वहण सन्धियों का समावेश स्वयं ही हो जाएगा ।

रूपक की प्रथम सन्धि मुखसन्धि है । इस सन्धि में रूपक के बीज की सूचना दी जाती है । रस एवं भाव आदि से रमणीय मुखसन्धि प्रारम्भावस्था में होने के कारण मुख के समान है । मुखसन्धि में बीज अल्परूप से ही प्रकाशित रहता है, प्रतिमुख सन्धि में प्रधानोपाय के उद्घाटन से बीज का प्रबल रूप में प्रकाशन होता है । मुखसन्धि में बीज का वपन होता है, प्रतिमुख सन्धि में आकर वही बीज फूटने लगता है । परन्तु इस सन्धि में भी बीज कुछ अस्पष्ट दशा में रहता है । लाभालाभ की गवेषणा के द्वारा जिसमें बीज का औन्मुख्य

---

१. नाट्यशास्त्र (२१—५४)
(Translation of the Natya Shastra by M. Ghosh)

२ वि० भू०

हो, वह गर्भ नामक संधि है। प्रतिमुख सन्धि में किञ्चित् प्रकाशित हुए बीज का बार-बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है किन्तु गर्भ सन्धि में—प्राप्त्याशा से परिच्छिन्न होने के कारण—फल का ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता। जहाँ व्यसन, शाप, दैवी आपत्ति या क्रोध आदि से फल-प्राप्ति में विघ्न उपस्थित हो जाता है, वहाँ 'अवमर्श' सन्धि पायी जाती है। रूपक के प्रधान वृत्तांश में कथावस्तु के बीज का विकार (उत्पत्ति, उद्घाटन, फलोन्मुखता आदि) प्रारम्भ आदि अवस्थाएँ, विचित्र भाव, उपाय (बिन्दु आदि) और मुख, प्रतिमुख, गर्भ एवं विमर्श आदि संधियाँ एक अर्थ के लिए नायक, प्रतिनायक, नायिका, अमात्य आदि के व्यापारों के साथ सम्यक् औचित्य से जब सम्बद्ध कर दी जाती हैं, तब फलागमावस्था से परिच्छिन्न निर्वहण सन्धि की प्राप्ति होती है।

नायक

भारतीय नाटक के नायक में धैर्य का पाया जाना अत्यन्त आवश्यक है। यही कारण है कि नायक के सभी भेदों के साथ 'धीर' विशेषण अवश्य प्रयुक्त किया जाता है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार मध्यम और उत्तम नायक के स्वभाव के अनुसार चार प्रकार के भेद हैं—धीरोद्धत, धीरोदात्त, धीरललित और धीरशान्त[1]। देवताओं को धीरोद्धत के रूप में चित्रित करना चाहिए। सेनापति और मन्त्रियों को धीरोदात्त के रूप में निबद्ध करना चाहिए। राजा का निबन्धन धीरललित के कोटि में करना चाहिए। ब्राह्मण और वैश्य धीरशान्त होते हैं।[2] धीरोद्धत नायक अनवस्थित, शौर्यादि के गर्व से युक्त, कूट प्रयोग करने वाला

१. उद्धतोदात्तललितशान्ताधीरविशेषणाः।
वर्ण्याः स्वभावश्चत्वारः नेतॄणां मध्यमोत्तमाः॥
(नाट्यदर्पण, पृ० २६

२. देवा धीरोद्धता ज्ञेयाः स्युर्ललितास्तु नृपाः स्मृताः।
सेनापतिरमात्यश्च धीरोदात्तौ प्रकीर्तितौ॥
धीरप्रशान्ता विज्ञेया ब्राह्मणा वणिजस्तथा।
(नाट्यशास्त्र, अध्याय ३४—१८,१९)

एवं स्वप्रशंसी होता है[१]। धीरोदात्त कोटि का नायक अति गम्भीर होता है। उसके मन पर क्रोध, शोक आदि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। वह न्याय करने वाला, क्षमावान् और स्थिर प्रकृति होता है। इस कोटि का नायक स्वप्रशंसा-रहित हुआ करता है। इसका गर्व संयत रहता है। वह अपने प्रण को जीवन के अन्त तक निभाता है एवं शरण में आए हुए की रक्षा करता है। वह लोक व्यवहार और शास्त्र का ज्ञाता एव धर्म में रुचि रखने वाला होता है[२]। स्थिरता, दृढ़ता आदि गुण सामान्यतः प्रत्येक नायक में पाए जाते हैं परन्तु इन गुणों की पराकाष्ठा धीरोदात्त नायक में ही देख पड़ती है।

धीरललित नायक शृंगारी होता है। वह मंत्रियों के ऊपर राज्य-भार छोड़ देने से राज्य की चिन्ता से मुक्त रहता है। इसका स्वभाव अत्यन्त मृदु होता है। यह गीतादि में भी अनुराग रखता है[३]। इसमें शृंगार रस की प्रधानता पायी जाती है। अतएव इसका समस्त आचरण सुकुमार हुआ करता है। धीरशान्त नायक अहंकार से सर्वथा रहित, कृपालु एवं विनम्र (गुरुजन आदि की आज्ञा का उल्लंघन न करना) होता है[४]।

नायिका के प्रति व्यवहार आदि की दृष्टि से उपरोक्त नायकों के पुनः चार भेद किए जा सकते हैं—अनुकूल, दक्षिण, शठ और धृष्ट। जो नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है, उसे 'अनुकूल' नायक कहते हैं। दक्षिण नायक एक साथ ही कई नायिकाओं में अनुराग रखता है परन्तु उसका व्यवहार सभी नायिकाओं से एक समान होता है। धृष्ट नायक लज्जाहीन हुआ करता है। वह अपनी पूर्वा नायिका से अपने नवीन प्रेम को छिपाता नहीं है। इसके विपरीत शठ नायक अपने नवीन प्रेम को छिपाया करता है।

प्रकृति-भेद के अनुसार नायक के तीन भेद होते हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। उत्तम नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, दक्ष, प्रिय बोलने वाला, बातचीत करने में कुशल एवं युवक होता है। इसी प्रकार इसमें और भी उत्तम गुण पाए

---

१. धीरोद्धतश्चलश्चण्डो दर्पी दम्भी विकत्थनः। (नाट्यदर्पण, पृ० २७)
२. धीरोदात्तोऽतिगम्भीरो न्यायी सत्त्वी क्षमी स्थिरः। (वही, पृ० २७)
३. शृंगारी धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः। (वही, पृ० २७)
४. धीरशान्तोऽनहङ्कारः कृपालुर्विनयी नयी। (वही, पृ० २७)

जाते हैं। मध्यम प्रकृति के नायक में न तो बहुत उत्कृष्ट और न बहुत अपकृष्ट गुण पाए जाते हैं। निम्न प्रकृति का नायक पापी, चुगलखोर, आलसी, कृतघ्न, हीन सत्त्व, स्त्री-लोलुप, रूक्ष और जड़ होता है।

नायक के पुनः तीन भेद किए जा सकते हैं—दिव्य, अदिव्य एवं दिव्यादिव्य। देवता दिव्य, मनुष्य अदिव्य और मनुष्य का रूप धारण किए देवता दिव्यादिव्य होते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर नायक के १४४ भेद होते हैं।

नायक में पुरुषत्व युक्त आठ सात्त्विक गुणों का होना परमावश्यक है। ये सात्त्विक गुण निम्न हैं—तेज, विलास, माधुर्य, शोभा, स्थैर्य, गाम्भीर्य, औदार्य एवं ललित। इन्हीं उपरोक्त गुणों के कारण ही नायक की उत्तमता, मध्यमता या अधमता निर्धारित की जाती है।

नायिका

यद्यपि नाटक आदि रूपक में नायक का विशेष महत्त्व है, तथापि नायिका का इससे कम महत्त्व नहीं है; विशेषकर शृंगाररस-प्रधान रूपक में। आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में नायिकाओं के चार भेदों का उल्लेख किया है—दिव्या, नृप-पत्नी, कुलस्त्री और गणिका।

काम और अर्थ का प्राधान्य होने से ललितोदात्त रूपक में पण्यकामिनी का निबन्धन करना चाहिए। प्रहसन से भिन्न रूपक में गणिका को नायक के प्रति निश्चित करना चाहिए। 'दिव्या' नायिका दिव्य कुल से उत्पन्न रहती है। इसी प्रकार नृप-पत्नी भी उद्वंशोद्भूता होती है। अवस्था तथा कामभावना के आधार पर कुलजा आदि नायिकाएँ तीन प्रकार की होती हैं—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा। मुग्धा नायिका यौवन और कामभावना से युक्त रहा करती है। अनभिज्ञ होने के कारण यह सुरत आदि क्रीड़ाओं से विपरीत रहा करती है। मध्या नायिका यौवन और कामभावना दोनों से पूर्ण रहा करती है। इसके अन्दर कामभावना का स्वल्प उद्रेक पाया जाता है। यह सुरत को मूर्च्छा के अन्त तक सह सकती है। नायक के प्रतिकूल आचरण करने पर यह मान प्रकट करती है। ऐसी अवस्था में उसके तीन भेद होते हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। प्रिय के अपराध करने पर धीरा मध्या वक्रोक्ति के द्वारा उसके हृदय को दुखित करती है। अधीरा नेत्रों में अश्रु भरे हुए कठोर वचन सुनाती है। धीराधीरा मध्या रुदन

करने के साथ ही साथ व्यंग्य वचनों का प्रयोग भी करती है। प्रगल्भा नायिका में यौवन, क्रोध और काम अत्यन्त दीप्त रहा करता है। वह प्रिय के द्वारा स्पर्श किए जाने पर ही अपने चैतन्य का त्याग कर देती है। वह अचेतन सी हो जाती है। मध्या नायिका के समान इसके भी तीन भेद हैं—धीरा, अधीरा और धीराधीरा। धीरा प्रगल्भा या तो आवश्यकता से अधिक नायक का सत्कार करती है या सुरत के प्रति उदासीनता प्रकट करती है। अधीरा प्रगल्भा क्रोध में आकर नायक की ताडना करती है। धीराधीरा प्रगल्भा व्यंग्य और कठोर वचन कहती है।

नायिकाओं का वर्गीकरण अन्य आधार पर भी किया जा सकता है। नायक के सम्बन्ध के आधार पर नायिका के पुनः तीन भेद किए जा सकते हैं—स्वीया, अन्या और सामान्या। 'स्वीया' नायिका नायक की स्वयं परिणीता पत्नी होती है। 'अन्या' या तो किसी व्यक्ति की अनूढा कन्या हो सकती है या किसी की विवाहिता पत्नी। तीसरी श्रेणी की नायिका साधारण स्त्री होती है।

उपर्युक्त सभी नायिकाएँ प्रकृति भेद से तीन तरह की होती हैं—उत्तमा, मध्यमा और अधमा। उत्तम प्रकृति की स्त्री लज्जायुक्त; मृदु स्वभाव वाली, धीरा, गम्भीरा, स्मित हास करने वाली, विनीता, कुलजा, चतुरा और स्नेहला होती है। मध्यम प्रकृति की स्त्री में मध्यम गुण और नीच प्रकृति की स्त्री में नीच गुण पाए जाते हैं।

अवस्था के भेद से नायिकाएँ आठ प्रकार की होती हैं—प्रोषितप्रिया, विप्रलब्धा, खण्डिता, कलहान्तरिता, विरहोत्कण्ठिता, वासकसज्जा, स्वाधीनभर्तृका और अभिसारिका। जिस नायिका का प्रिय धनोपार्जन, राज-प्रयोजन आदि के कारण देशान्तर में स्थित रहता है, शृंगारादि से रहित वह नायिका 'प्रोषितप्रिया' कहलाती है। समय पर प्रिय के न आने से दुःखित नायिका को 'विप्रलब्धा' से अभिहित किया जाता है। 'खण्डिता' नायिका असूया से युक्त रहती है। 'कलहान्तरिता' नायिका नायक के अपराध करने पर ईर्ष्या तथा कलह के कारण उसका परित्याग कर देती है और बाद में पश्चात्ताप भी करती है। अनपराधी प्रिय (जिसने अन्य स्त्री के साथ सुरत आदि क्रीड़ाएँ नहीं की हैं) के आगमन में विलम्ब देखकर उत्सुकता से उसकी प्रतीक्षा करने वाली नायिका 'विरहोत्कण्ठिता' कहलाती है। प्रिय के आगमन के समय हर्ष से अपने को सँवारती हुई

नायिका 'वासकसज्जा' कहलाती है। 'स्वाधीनभर्तृका'-नायिका का पति इसके वश में रहता है। सुरतार्थिनी नायिका स्वयं नायक के पास गमन करे या प्रिय को अपने समीप बुलाए, 'अभिसारिका' कही जाती है।

विदूषक

नाट्य में विदूषक का प्रयोग प्रधानरूप से हास्य के निमित्त ही किया जाता है[1]। इसका मुख्य कार्य हास्य का उत्पन्न करना ही बताया गया है। नाट्यदर्पणकार के अनुसार विदूषक खल्वाट होने के कारण, दन्तुर, कुब्जेपन और विकृताननत्वादि आंगिक विकारों के द्वारा, आकाश-विलोकन, गमनादि नेपथ्य विकारों द्वारा एवं असम्बद्ध, निरर्थक और अश्लील भाषण आदि वाचिक विकारों के द्वारा हास की उत्पत्ति करता है[2]। पुनः इनके मतानुसार विदूषक शान्ति को कलह के द्वारा और कलह को शान्ति के द्वारा नष्ट करता है। राजा की वियोगावस्था में विनोददान के द्वारा विदूषक उसको प्रसन्न रखता है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी आगे चलकर यह बताया है कि विदूषक प्रेम-व्यापार में नृप का अनन्य मित्र हुआ करता है। यह अपने कर्म, रूप एवं भाषण के द्वारा हास्य की अभिव्यक्ति करता है। यह ईर्ष्यालु, कलहप्रिय एवं अपने कर्तव्य का ज्ञाता भी होता है[3]। इसके अतिरिक्त विदूषक नायक का अन्तरङ्ग मित्र भी हुआ करता है। वह प्रेम विषयक व्यापार में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से नायक के साथ परिहास भी किया करता है।

इसके अतिरिक्त विदूषक पूर्वरङ्ग में भी उपस्थित होकर कथावस्तु का संकेत करता है। यह पूर्वरङ्ग में त्रिगत के अवसर पर सूत्रधार और उसके सहायक के

---

१. हास्यकृच्च विदूषकः (दशरूपक, द्वितीय प्रकाश, नवीं कारिका) विदूषको हास्यनिमित्तं भवति (नाट्यदर्पण, पृ० १७७)

२. हास्यं चास्याङ्गनेपथ्यवचोविकारात् त्रिधा। तत्राङ्गहास्यं खलति-खञ्ज-दन्तुर-विकृताननत्वादिना। नेपथ्यहास्यमल्पायताम्बरलोल्लोकितविलोकित-गमनादिना। वचो हास्यमसम्बद्धानर्थकाश्लीलभाषणादिना भवति।

(नाट्यदर्पण, पृ० १७७)

३. कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः। हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः।

(साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, पृ० १०६)

साथ प्रवेश करता है। विदूषक सहसा मञ्च पर आकर पहेलीयुक्त बात करता है। तदनन्तर वह कुछ प्रश्न करता है। यथा—यहाँ कौन है ? किसने विजय प्राप्त की ? आदि, आदि। इसके साथ वार्तालाप करते हुए सूत्रधार कथावस्तु की सूचना देता है[१]।

भरत के अनुसार विदूषक द्विज होता है। इसके दाँत बड़े-बड़े और आँखें रक्त वर्ण की होती हैं। यह कुबड़ा और विकृत रूप वाला होता है[२]। इसके द्विज होने का अभिप्राय यह है कि विदूषक शूद्र जाति का नहीं हो सकता। शारदातनय ने भी भरत के शब्दों को यत्किञ्चित् परिवर्तनों के साथ दुहराया है[३]। द्विज होने के कारण विदूषक यज्ञोपवीत धारण किए रहता है। वह अपने हाथ में छड़ी भी लिए रहता है जिसे दण्डकाष्ठ अथवा कुटिलक कहते हैं। ब्राह्मण जाति का होने से स्वभाव से ही वह पेटू, मधुर-प्रिय एवं भीरु होता है।

नायक के चार भेदों के आधार पर विदूषक के भी चार भेद हैं—लिङ्गी, द्विज, राजजीवी और शिष्य; जो क्रमशः दिव्य, नृप, अमात्य और ब्राह्मण नायक के विदूषक होते हैं[४]। शारदातनय ने चारों प्रकार के नायकों के विदूषकों के गुणों का उल्लेख किया है। देवताओं का विदूषक सत्यवादी, भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञाता, कृत्याकृत्य का विशेषज्ञ, तर्क और वितर्क करने वाला और यथार्थ दृष्टिवादी हुआ करता है। राजा का विदूषक शिष्ट परिहास करने वाला, अर्थ और स्त्रियों में शुद्ध मन वाला और देवी की परिचारिकाओं का

---

१. तथा च भारती भेदे त्रिगतं सम्प्रयोजयेत् ॥
विदूषकस्त्वेकपदां सूत्रधार········।
असम्बद्धकथाप्रायां कुर्यात् कथानिकां ततः ॥
वितण्डां गण्डसंयुक्तां नालीकं च प्रयोजयेत्।
कस्तिष्ठति जितं केनेत्यादिकाव्य······ ॥
(नाट्यशास्त्र, पञ्चम अध्याय, पृ० २४२)

२. वामनो दन्तुरो कुब्जो द्विजन्मा विकृताननः।
खलतिः पिङ्गलाक्षश्च स विधेयो विदूषकः ॥
(नाट्यशास्त्र, अध्याय ३५—५७)

३. भावप्रकाशन, पृ० २८९, दशम अधिकार।

४. नाट्यशास्त्र, अध्याय ३४, १९-२०।

प्रियतम होता है। यह अन्तःपुर में भी भ्रमण किया करता है। यह ईर्ष्यालु, कलह-युक्त और प्रणय-क्रोध में देवी को प्रसन्न करने वाला होता है। अमात्य का विदूषक अश्लील वक्ता, दम्पति के अपराधों का प्रकाशक, भक्ष्य और अभक्ष्य सभी पदार्थों का प्रेमी होता है। इसके अंग और वेष सभी विरूप होते हैं। वणिज् के विदूषक का वेष, अङ्ग, वचन एवं परिहास सभी विरूप होता है[1]।

ब्राह्मण होते हुए भी विदूषक प्राकृतभाषा का ही प्रयोग करता है। भरत ने स्पष्टरूप से कहा है कि विदूषक को वार्तालाप करते समय प्राच्य प्राकृत का प्रयोग करना चाहिए[2]। इसी नियम का उल्लेख सागरनन्दिन आदि विद्वानों ने भी किया है[3]।

राजशेखर

'सर्वभाषाविचक्षण' एवं 'सर्वभाषाचतुर'[4] महाकवि राजशेखर का जन्म यायावर कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम दुर्दुक एवं माता का नाम शीलवती था। इनके पितामह महाराष्ट्रचूडामणि अकालजलद थे[5]। इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नाम की चौहानवंशी विदुषी क्षत्रिय ललना से विवाह किया था[6]। इन्होंने अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार माना है[7]।

ये कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के यहाँ आचार्य रूप में रहते थे[8]। सियो-

---

१. भावप्रकाशन पृ० २८१–८२।

२. प्राच्या विदूषकादीनाम्—। (नाट्यशास्त्र, अध्याय १८, ३८ वाँ श्लोक)

३. शौरसेनीमथप्राच्यामवन्तीं क्वचित् पठेत्।
एता एव वणिक् श्रेष्ठि बालकाश्च विदूषकाः॥ (नाटकलक्षणरत्नकोश)

४. कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिकान्तर।

५. तदकालजलदस्य प्रणप्तुस्तस्य''''''। (विद्धशालभञ्जिका, प्रथम अङ्क)

६. चाउहाणकुलमौलिमालिआ राअसेहर कइंदगेहिणी।
भत्तुणो किदिमवंतिसुंदरी सा पउंजइदुमेदमिच्छदि॥
(कर्पूरमञ्जरी, प्रथम जवनिकान्तर, ११)

७. बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥
(बालरामायण १।१६)

८. रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः।
(विद्धशालभञ्जिका, प्र० अ०, ६)

टोनी के शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल ने ९०३ ई०—९०७ ई० तक राज्य किया[1]। अतएव राजशेखर का स्थितिकाल ९०० ई० के लगभग सिद्ध होता है। पुनः कुछ अन्य तथ्यों से भी इनके काल-निर्णय में सहायता मिलती है। एक ओर राजशेखर ने अपनी काव्यमीमांसा में उद्भट (८०० ई०) एवं आनन्दवर्धन (८५० ई०) का उल्लेख किया है। दूसरी ओर यशस्तिलक चम्पू' (९५९ ई०), 'तिलकमञ्जरी' (१००० ई०) और 'व्यक्तिविवेक' (११५० ई०) में भी राजशेखर का उल्लेख है। इस प्रकार राजशेखर दसवीं शती के प्रारम्भ में हुए थे, ऐसा सिद्ध होता है।

इनके बनाए हुए निम्न ग्रंथ हैं—(i) काव्यमीमांसा, (ii) भुवनकोष (iii) बालरामायण, (iv) बालभारत, (v) कर्पूरमञ्जरी, (vi) विद्धशालभञ्जिका। काव्यमीमांसा के अवलोकन से इनकी अद्वितीय प्रतिभा का पता चलता है। यह प्रायः कवियों की शिक्षा का ग्रंथ है। 'भुवनकोष' कदाचित् भूगोल का ग्रन्थ था। बालरामायण दस अङ्कों का नाटक है। इसका दशम अङ्क भौगोलिक वर्णनों से ओत-प्रोत है। बालभारत के केवल दो ही अङ्क उपलब्ध हुए हैं। कर्पूरमञ्जरी चार अङ्कों का सट्टक है। सम्पूर्ण ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखा गया है। इसमें राजा चण्डपाल और कुन्तलराजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की प्रेमकथा का वर्णन किया गया है।

विद्धशालभञ्जिका

राजशेखर विरचित 'विद्धशालभञ्जिका' चार अङ्कों की एक नाटिका है। इसका कथानक इस प्रकार है—लाटप्रदेश के अधिपति नृपतिश्रेष्ठ चन्द्रवर्मा के एक पुत्री पैदा हुई। निष्पुत्र होने के कारण उसके दूतों ने मन्त्री से पुत्रोत्पत्ति की सूचना दी। उन लोगों ने उस पुत्री को पुत्रवेश में सम्राट् विद्याधरमल्ल के संदर्शनार्थ बड़े सफल ढंग से पहुँचा दिया। विद्याधरमल्ल अपने मित्र विदूषक से कहता है कि आज भोर के समय स्वप्न में कमनीय अङ्गों वाली अबला दिखलाई पड़ी। मैंने उसे पकड़ने का प्रयत्न किया किन्तु वह अपने मोती के हार को छोड़कर अन्यत्र चली गई। इधर राजा के मंत्री भागुरायण को इस रहस्य का ज्ञान था कि मृगांकवर्मन् कन्या ही है और जिसके साथ उसका पाणि-

१. Keilhorn, *Epigraphia Indica i*, 171

ग्रहण संस्कार सम्पन्न होगा वह चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। अतएव वह मंत्री इस बात का प्रयत्न करता है कि विद्याधरमल्ल एवं मृगांकवर्मन परस्पर प्रणयसूत्र में बँध जायें। पुनः संयोगवश राजा अपनी चित्रशाला में अपनी स्वप्नगत प्रेयसी की खुदी हुई मूर्ति (शालभञ्जिका) देखकर उसके गले में मोतियों का हार डाल देता है। यह प्रथम अङ्क का कथानक है। दूसरे अङ्क में रानी कुन्तलराज-कुमारी कुवलयमाला का पाणिग्रहण संस्कार अपने मामा के पुत्र मृगांकवर्मा के साथ सम्पन्न करना चाहती है। इधर विदूषक के साथ राजा अपने स्वप्न की सुन्दरी मृगांकावली को प्रणय लेख पढ़ते हुए देखता है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर अनुरक्त हो जाते हैं। तीसरे अङ्क में नायक एवं नायिका का परस्पर मिलन होता है। चौथे अङ्क में रानी हँसी करने के उद्देश्य से मृगांकवर्मा को वस्तुतः बालक ही जानकर उसे स्त्रीवेश में रखकर राजा के साथ विवाह कर देती है। किन्तु रानी स्वयं ही छली जाती है। उधर चन्द्रवर्मा का प्रधान दूत आकर सूचित करता है कि मेरे राजा ने पुत्रहीन होने के कारण मृगांकावली को पुत्र प्रसिद्ध किया। अब उन्हें पुत्र की प्राप्ति हो गई है। अन्त में रानी मृगांकावली का विवाह राजा के साथ कर देती है, कुवलयमाला का भी विवाह उनसे कर देती है। इस प्रकार इस नाटिका का कथानक अत्यन्त रोचक है।

नाटिका में शृंगार रस प्रधान होता है, अतएव 'विद्धशालभञ्जिका' भी शृंगाररस से परिपूर्ण है। राजशेखर के स्त्री-सौन्दर्य की कल्पना देखिए—

चक्षुर्मेचकमम्बुजं विजयते वक्त्रस्य मित्रं शशी
भ्रूसुब्रह्मसनाभिमन्मथधनुर्लावण्य पण्यं वपुः।
रेखा कापि रदच्छदे च सुतनोर्गात्रे च तत् कार्मिनं
मैनां वर्णयिता स्मरो यदि भवेद्वैदग्ध्यमम्यस्यति ॥ (प्र० अ०, ३३)

और भी

मात्रानर्तितमण्डनभ्रु वदनं किंचित्प्रगल्भे दृशौ
स्तोकोद्भेद-निवेशितस्तनमुरो मध्यं दरिद्राति च।
अस्याः पञ्चदशं पदं च कलया मल्लक्रमेणो दृशः
रत्नंकार इव स्मरैकसुहृदा सद् यौवनेनार्पितः ॥ (प्र० अ०, ४०)

प्रभात-वर्णन, संध्या-वर्णन, वसन्त-वर्णन और चन्द्रिका का वर्णन भी अत्यन्त सजीव है। यथा—प्रभात-वर्णन ही देखिए—

मजत्यपरवारिधिं रजतपिण्डपाण्डुः शशी
नमन्ति बल्बुद्बुद्द्युतिसपङ्क्तयस्तारकाः ।
कुरण्टकविपाण्डुरं दधति धाम दीपाङ्कुरा-
श्चकोरनयनारुणा भवति दिक् च सौत्रामणी ॥ (च० अं०, १)

(चाँदी के गोले के समान गौरवर्ण चन्द्रमा पश्चिम समुद्र को जा रहा है, पंक्तिबद्ध तारागण पानी के बुल्बुले की भाँति झुक रहे हैं। घरों के दीपक की लौ कुटज पुष्प की भाँति उज्ज्वल हो रही है। पूर्व दिशा चकोरों के नेत्रों की भाँति लाल हो रही है।)

धत्ते पद्मलता दलेप्सुरुपरि स्वं कर्णतालं द्विपः
शष्पस्तम्बरसान्नियच्छति शिखी मध्ये शिखण्डं शिरः ।
मिथ्यालीढमृणालकोटिरसमाद् दंष्ट्राङ्कुरं शूकरो
मध्याह्ने महिषश्च वाञ्छति निजच्छायं महाकर्दमम् ॥ (प्र० अं० ४३)

(पद्मलता के दलने का इच्छुक हाथी दोपहर की गर्मी से व्याकुल होकर अपने ऊपर अपने बड़े-बड़े कानों को चला रहा है। घासों के रसास्वादन को त्यागकर मयूर अपने शिर को अपने पंखों के अन्दर छिपा रहा है। सुअर ने कमल की जड़ को खोद-खोदकर खाना बन्द कर दिया है। सुअर और भैंसे अपने शरीर पर लेप करने के लिए गहरे कीचड़ की इच्छा कर रहे हैं) उपरोक्त श्लोक में पशुगण गर्मी से कितना व्याकुल हो रहे हैं, इसका कितना ही स्वाभाविक चित्रण हुआ है।

पदध्वनि से भी पदार्थ की प्रतीति कराने में राजशेखर अत्यन्त निपुण है।

'अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारुचारक्रमं,
झणज्झणितमेखलं स्खलिततारहारच्छटम्। (द्वि० अं० ६)

इस नाटिका में लालित्य यत्र-तत्र-सर्वत्र भरा पड़ा है। इसका मंगलाचरण ही लालित्य से भरा हुआ है—

कुलगुरुरबलानां केलिदीक्षाप्रदाने परमसुहृदनंगो रोहिणीवल्लभस्य ।
अपि कुसुमपृषत्कैर्देवदेवस्य जेता जयति सुरतलीलानाटिकासूत्रधारः ॥

विद्धशालभञ्जिका में लोकोक्तियों एवं सूक्तियों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। यथा—

भ्रियः प्रसूते विरदो रुणद्धि यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कार-शौदयेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः॥ (प्र० अं० ८)

'न खलु अनुर्ल्यांडितः सहकार-पृष्ठ-ग्रन्थिः रससर्वस्वं मुञ्चति' आदि, आदि। मुहाविरों का भी प्रयोग दर्शनीय है—'वरं तत्कालोपनतत्तित्तिरिः, न पुनर्दिवसान्तरितो मयूरः' 'यदरिष्टमधिरूढा कारवल्ली-वल्लरी किमुच्यते कटुकत्वं प्रति'। (क्रमशः प्र० अं०, च० अं०)

इनकी इस नाटिका में यद्यपि प्रवाह की शिथिलता पायी जाती है, तथापि इसमें भावों को अत्यन्त ही प्रभावोत्पादक ढंग से व्यक्त किया गया है। आँसुओं के गिरने का कैसा अनूठा वर्णन है—

अन्तस्तारातरलितजलाः स्तोकमुत्पीडभाजः
पक्ष्माग्रेषु प्रसृतपृषतः कीर्णधाराः क्रमेण।
चित्तातङ्कं निज-गरिमतः सम्यगाख्यन्तो
निर्यान्त्यस्याः कुवलयदृशो बाष्प-वारां प्रवाहाः॥ (तृ० अं० २४)

(नील कमल के समान नेत्रों वाली इस सुन्दरी के आँसू पहले पुतलियों से तरल-भाव को प्राप्त हुए, क्रमशः थोड़ा सा दबाव पड़ने से बरौनियों के अग्रभाग पर बूँदों के रूप में फैल गए। तदनन्तर परस्पर गुँथ कर एक धारा में परिवर्तित हो गए और अब अपनी गुरुता से आन्तरिक पीड़ा को सम्यक् प्रकार से प्रकट करते हुए प्रवाह के रूप में बाहर निकल रहे हैं।) इसी प्रकार से और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं। इन सब बातों को देखते हुए निम्न उक्ति यथार्थ ही प्रतीत होती है—

पातुं श्रोत्र-रसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्ति परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रस-स्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीवित-तरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः! शृणु राजशेखर कवेः सूक्तीः सुधास्यन्दनीः॥ (प्र० अं० ७)

प्रथम अङ्क में राजा की यह उक्ति "अहो! गाढ़त्वम्! अहो! शिखरिणी पाठः! अहो! युक्ति-युक्ता वाचः! अहो! हृद्या वैदर्भी रीतिः! अहो! माधुर्यं पर्याप्तम्। अहो! निष्प्रमादः प्रसादः"। पूर्णरूप से विद्धशालभञ्जिका नाटिका पर भी लागू होता है।

श्लोकानुक्रमणिका

॥ श्रीः ॥

विद्धशालभञ्जिका

हिन्दीव्याख्योपेता

प्रथमोऽङ्कः

कुलगुरुरबलानां केलि-दीक्षा-प्रदाने
परमसुहृदनङ्गो रोहिणी-वल्लभस्य ।
अपि कुसुम-पृषत्कैर्देवदेवस्य जेता
जयति सुरतलीलानाटिका-सूत्रधारः ॥ १ ॥

अपि च—

दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः ।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुवे वाम-लोचनाः ॥ २ ॥

स्त्रियों को रति-क्रीडा का मन्त्र देने में उनके कुलक्रमागत गुरु, रोहिणी-वल्लभ चन्द्रमा के परम मित्र, कुसुम-शरों से देवदेव शंकर जी को भी जीतने वाले और संभोग-लीलारूपी नाटिका के सूत्रधार कामदेव जी सर्वश्रेष्ठ हैं ॥ १ ॥

और भी—

(शङ्कर जी के द्वारा) दृष्टि से जला दिये गये काम को (अपनी) दृष्टि से ही (पुनः) जो जीवित कर देती हैं, (इस प्रकार) शंकर जी को परास्त कर देने वाली उन परम सुन्दरियों की मैं स्तुति करता हूँ ॥ २ ॥

(पुनः समाधाय)—

गोनासाविनियोजितायतजरत्सर्पाय बद्धौषधिः
कण्ठस्थाय विषाय वीर्यमहते पाणौ मणीन् बिभ्रती ।
भर्तुर्भूतगणाय गोत्रजरतीनिर्दिष्टमन्त्राक्षरा
रक्षत्वद्रिसुता विवाहसमये ह्रीता च भीता च वः ॥ ३ ॥

नान्द्यन्ते सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) न जाने का पुनरद्य श्री-युवराजदेवस्य परिषदाज्ञा ? नेपथ्ये गीयते—

कुन्दलदाए विमुक्क-मअरन्दरसाए वि चञ्चरीअओ ।
पणअप्परूढ-पेम्मभरभञ्जन-काअरभावभीअओ ॥ ४ ॥

(कुन्दलतायां विमुक्तमकरन्दरसायामपि चञ्चरीककः ।
प्रणयप्ररूढप्रेमभरभञ्जनकातरभावभीरुकः ॥ ४ ॥)

तरुणी तरट्टिअं णिअ पिअं विअ चारुपसूणदिट्ठिअं ।
रक्खइ णअइ धुणइ परिरम्भइ चुम्बइ चूदलट्ठिअं ॥ ५ ॥

(पुनः समाहित होकर)

विवाह के समय (वर शंकर जी को भयंकर उपकरणों से युक्त देखकर) लजाई और डरी हुई पार्वती जी, जिन्होंने शंकर जी के वाहन बैल के नथुनों में (नकेल के रूप में) लगाये गये दीर्घकाय पुराने साँप का प्रतीकार करने के लिए ओषधि बाँध ली, (शिव जी के) कण्ठ में स्थित विष के प्रतीकारार्थ हाथ में मणियाँ धारण कर लीं तथा भूतगण के निवारणार्थ जिन्हें कुल की बूढ़ी स्त्रियों ने मन्त्राक्षर सिखा दिया, आप लोगों (दर्शकों अथवा पाठकों) की रक्षा करें ॥ ३ ॥

नान्दी समाप्त होने पर सूत्रधार—(नेपथ्य की ओर देखकर) मैं नहीं जानता कि आज श्री युवराजदेव की सभा की क्या आज्ञा है ? नेपथ्य में गाया जा रहा है—

कुन्दलता के मकरन्द रस को त्याग देने पर भी प्रणय-प्रेमाधिक्य के भङ्ग होने की शंका से सशंकित भ्रमर, (कुरुश्री की भाँति समृद्ध, सुन्दर पुष्परूपी

(तरुणी कुरुभियमिव शनैरेष चारुप्रसूनकदृष्टिम् ।
रक्षति नयति महते परिरभते चुम्बति चूतयष्टिम् ॥ ५ ॥)

सूत्रधारः (आकर्ण्य) अये । यायावरेण दौहिकिना कविराजशेखरेण विरचिताया विद्धशालभञ्जिका-नामनाटिकाया वस्तूपक्षेपो गीयते । (विभाव्य) तन्मन्ये तदभिनये श्रीयुवराजदेवस्य परिषदाज्ञा । तदहमपि मन्त्रिणो भागुरायणस्य प्रतीककृत्या शिष्यैर्विहितचारुनाम्नोऽन्तेवासिनो हरदासस्य भूमिकां सम्पादयामि ।

(आकाशे)—सखे सोमदत्त ! किमात्थ ? तदकालजलदस्य प्रणप्तुस्तस्य गुण-गणः किमिति न वर्ण्यते ? तत्रैव शृणु—

किमु परम्परैः परोपकारव्यसननिधेर्गुणितैर्गुणैरमुष्य ।
रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकलकलानिलयः स यस्य शिष्यः ॥ ६ ॥

आकर्णय च गोष्ठीगरिष्ठस्य कृष्णशङ्करवर्मणो वाचः—

दृष्टिवाली रसाल की शाखा को धीरे से जाकर अपनाता है, आदर करता है, हृदय से लगाता है और चूमता है ॥ ४-५ ॥

सूत्रधार—(सुनकर) अये ! यायावर में उत्पन्न दुहिक (दुर्दुक) के पुत्र कविराजशेखर-विरचित विद्धशालभञ्जिका का वस्तूपक्षेप (संक्षेप में नाटक का सम्पूर्ण वृत्तान्त) गाया जा रहा है । (समझ कर) तो मैं यह समझता हूँ कि उसका अभिनय करने के लिए श्री युवराज देव की सभा की आज्ञा है । तो मैं भी मन्त्री भागुरायण, शिष्यों ने जिनका प्रतीकात्मक नाम चारु रक्खा है—के शिष्य (चारायण) हरदास की भूमिका (अभिनय) का सम्पादन करूँ ।

(आकाश) में सखे सोमदत्त ! क्या कहते हो ? अकालजलद के प्रपौत्र (राजशेखर) का गुण-वर्णन क्यों नहीं करते ? उसी विषय में सुनो—रघुकुलतिलक, सकलकलाओं के आगार, महेन्द्रपाल जिनके शिष्य हैं, परोपकार के व्यसनी इन (राजशेखर) के प्रकृष्ट गुणों से बढ़कर और क्या है ॥ ६ ॥

गोष्ठी-गरिष्ठ (विद्वत्-सभा में सर्व-श्रेष्ठ) कृष्णशंकर वर्मा के वचनों को

पातुं श्रोत्ररसायनं रचयितुं वाचः सतां सम्मता
व्युत्पत्तिं परमामवाप्तुमवधिं लब्धुं रसस्रोतसः।
भोक्तुं स्वादुफलं च जीवितरोर्यद्यस्ति ते कौतुकं
तद् भ्रातः ! शृणु राजशेखरकवेः सूक्तीः सुधास्यन्दिनीः ॥ ७ ॥

(निष्क्रान्तः)

इति प्रस्तावना

(ततः प्रविशति हरदासः)

हरदासः—(सशिरःकम्पम्) अहह ! प्रज्ञाप्रकर्षः सर्वेषामुपरि वसति। तदुक्तम्—

श्रियः प्रसूते विपदो रुणद्धि यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौचेन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ॥ ८ ॥

तदिदं चास्मद्गुरोश्चरितेषु परमुपलभ्यते। तथा हि—
लाटेन्द्रश्चन्द्रवर्मा नरपतितिलकः कल्पिता तेन पुत्री
निष्पुत्रेणैकपुत्रः कथितमपि तया मन्त्रिणे तस्य चारैः।

सुनो—यदि तुम कानों के लिए रसायन पीना, सज्जन-सम्मत वचनों की रचना, परम विशिष्ट ज्ञान को प्राप्त करना, रस-स्रोत की पराकाष्ठा को पाना (वहाँ तक पहुँचना), जीवनरूपी वृक्ष के मधुर फल का आस्वादन करना चाहते हो तो भाई ! राजशेखर कवि की अमृत-वर्षिणी सूक्तियों को सुनो ॥ ७ ॥

(रंग मञ्च से चला गया)

इति प्रस्तावना।

(तदनन्तर हरदास प्रविष्ट होता है)

हरदास—(सिर कँपाते हुए) अहह ! प्रकृष्ट बुद्धि सबसे उत्तम है। कहा गया है—सम्पत्ति ऐश्वर्यों को उत्पन्न करती है, विपत्तियों का अवरोध करती है, यश-प्राप्ति कराती है, पाप को विनष्ट करती है और संस्कारों को शुद्ध कर परम पवित्र करती है। (इस प्रकार) शुद्ध बुद्धि निश्चय ही कामधेनु है ॥ ८ ॥

यह हमारे गुरु के चरित्रों में पूर्ण रूप से मिलता है। यथा—लाट प्रदेश के अधिपति नृपतिश्रेष्ठ चन्द्रवर्मा के एक पुत्री पैदा हुई। निष्पुत्र होने के कारण उसके दूतों ने मन्त्री से पुत्रोत्पत्ति की सूचना दी। उस पुत्री को पुत्रवेश में

तस्मात् पुत्रावकल्पच्छलत इह महाराजसन्दर्शनार्थं
तेनाद्यानायितासौ निरुपधि दधता साधु षाड्गुण्यचक्षुः ॥९॥

(आकाशे) अये ! चारायण ! किमात्थ ?

अन्तेउरिआसहस्सपरिवारस्स महाराअस्स किं तीए विणा विसूरदित्ति?
(अन्तःपुरिकासहस्रपरिवारस्य महाराजस्य किं तया विना विसंवति।)

तं प्रति मा मैवम्। अत्र किंचन मंत्रबीजमस्ति, तत् कार्यसिद्धावाविर्भविष्यति।

(नेपथ्ये) पच्चूससुहपडिबुद्धस्स सुप्पभादं देवस्स। संपदं खु—
(प्रत्यूषसुखप्रतिबुद्धस्य सुप्रभातं देवस्य। सांप्रतं खलु)—

माणो जाण ण खण्डिदो ससि अरुक्केरेण वित्थारिणा
हुंकारा णअपंचमस्स वि चिरं जासु ट्ठिदा कुंठिदाः।
पच्चूसाणिअदोलणेण लग्गा मोत्तूण माणग्गहं
चूडाचुंबिदवल्लहग्गचलणा वट्टन्ति ताः संपदम्॥ १०॥

(मानो यासां न खण्डितः शशिकरोत्करेण विस्तारिणा
हुङ्काराः नवपञ्चमस्यापि चिरं यासु स्थिताः कुण्ठिताः।

सम्राट् (विद्याधर मल्ल के संदर्शनार्थं बड़े सफल ढंग से राजनीति[1] के षड्गुणरूपी नेत्र रखने वाले उन्होंने (मागुरायण ने) यहाँ मँगवा लिया॥ ९॥

(आकाश में) अरे चारायण ! क्या कह रहे हो ! महाराज के रनिवास में हजारों रानियाँ हैं। उस (कन्या) के बिना उनको क्या दुःख !

उनके प्रति ऐसा मत कहो। इसमें कोई रहस्य है जो कार्य-सिद्धि के अनन्तर प्रकट होगा।

(नेपथ्य में) तड़के सुख से जगे हुए देव को प्रभात सुखकर हो। इस समय—

जिन (मानिनी) स्त्रियों का मान चन्द्रमा की (उद्दीपक) किरणों से खण्डित नहीं हुआ, जिन पर कोकिल की हुङ्कार कुण्ठित रही—कुछ प्रभाव न डाल सकी, उनका प्रातःवेला के वायु-संचार से मान-भङ्ग हो गया और अब

१—राजनीति के छः गुण निम्न हैं—सन्धि, विग्रह, यान (चढ़ाई), आसन (विश्राम), द्वैधीभाव और संश्रय।

प्रत्यूषानिलदोलनेन ललना मुक्त्वा नु मानग्रहं
चूडाचुंबित वल्लभाग्र चरणा वर्तन्ते ताः सांप्रतम् ॥ १० ॥)

(पुनस्तत्रैव) भो भो वंदि-विंदारआ मंतिविणिम्मिदमहाराअवास-घरपेरंतवासी महमल्लओ तुह्मे भणदि को विअ कालो विज्जाहरमल्लदेवस्स विबुधस्स । ता कत्तो पभादभोआवलिं ण गायधत्ति ।

(भो भो वन्दिवृन्दारकाः, मन्त्रिविनिर्मापितमहाराजवासगृहपर्यन्तवासी महामल्लको युष्मान् भणति क इव कालो विद्याधरमल्लदेवस्य विबुधस्य, तत् कस्मात् प्रभातभोगावलिं न गायथ ?)

(तत्रैव)—

जय जयोज्जयिनीभुजङ्ग ! सुप्रभातं भवतः । सम्प्रति हि—

द्वित्रैर्व्योम्नि पुराणमौक्तिकमणिच्छायैः स्थितं तारकै—
ज्योत्स्नापानभरालसेन वपुषा सुप्ताश्चकोराङ्गनाः ।

(मान छोड देने के कारण) उनके मस्तक प्रियतमों के चरण चूम रहे हैं—उन्होंने मान त्याग कर प्रियतमों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया ॥ १० ॥

(पुनः वहीं)

हे हे बन्दी जनो ! मन्त्री द्वारा बनवाये गये महाराज के वासगृह के पास ही रहने वाले महामल्लक तुम लोगों से कह रहे हैं—महापण्डित विद्याधरमल्ल देव को जगे अधिक समय हो गया । क्यों तुम लोग प्रभातविषयक गान नहीं गाते हो ?

(वहीं) हे उज्जयिनी के स्वामी ! प्रभात आप को मंगलकारी हो । इस समय—

पुराने मोती और मणियों की सी कान्ति वाले दो-तीन तारे आकाश में स्थित हैं (दिखाई दे रहे हैं), चकोरियाँ चन्द्रिका को छककर पीने के कारण शरीर के अलसा जाने से सो गईं । रसयुक्त मधु के छत्ते की छवि वाला चन्द्रमा अस्ताचल पर अस्त को प्राप्त हो गया । प्राची दिशा विहाल-

यातोऽस्ताचलमस्तमुद्रसमधुच्छत्रच्छविश्चन्द्रमाः
प्राची बालबिडाललोचनरुचां जाता च पात्रं ककुप् ॥ ११ ॥

अपि च—

भिन्दानः सुन्दरीणां पतिषु रुषमयं हर्म्यपारावतेभ्यो
वाचालत्वं ददानः कवयितृषु गुणं प्रातिभं सन्दधानः ।
प्रातस्त्यस्तूर्यनादः स्थगयति गगनं मांसलः पांसुतल्पा-
दस्वल्पादुत्थितानां नरवरकरिणां शृंखलाशिञ्जितेन ॥ १२ ॥

हरदासः—महत्येव प्रभाते प्रबुद्धो देव इति मंत्रि-मंत्र-प्रभाव एवैषः ।
यतः—

कारुभिः कारितं तेन कृत्रिमं स्वप्नहेतवे ।
सुषिरस्तम्भसञ्चारं नृपतेर्वासमन्दिरम् ॥ १३ ॥

तदहमपि सुषिरस्तम्भप्रवेशसंचारापसारं वासगृहनिर्मितवतां तथा-

बालक के लोचनों की कान्ति को प्राप्त हुई—बिडाल-बालक के नेत्रों के रंग की हो गई ॥ ११ ॥

और भी—

तुरही अथवा मृदङ्ग का यह प्रातःकालीन गंभीर स्वर सुन्दरियों के पति-विषयक क्रोध को विदीर्ण करता, महल के कपोतों को वाचालता देता, कवियों में प्रतिभासम्बन्धी गुणों को युक्त करता—उनकी काव्य-प्रतिमा को उद्दीप्त करता हुआ, धूल-शयन से उठे, राजा के, हाथियों की शृङ्खला की खनखनाहट से गगन-मण्डल को भर दे रहा है ॥ १२ ॥

हरदास—बड़े ही तड़के महाराज जग गये, यह मंत्री के मंत्र का ही प्रभाव है । क्योंकि—

उस (मंत्री) महाराज के वास-मन्दिर को शिल्पियों द्वारा छिद्रों से युक्त स्तम्भों के कारण (वायु, ध्वनि आदि का) सञ्चार वाला बनवाया है ॥ १३ ॥

तो मैं भी छिद्रों से युक्त स्तम्भों के कारण जिसमें (वायु, ध्वनि आदि का) प्रवेश, संचार और अपसार होता है, ऐसे वास-गृह का जिन्होंने निर्माण

विधां रत्नैश्चतुष्किकां च करिष्यतां शिल्पिनां मन्त्रिसमादिष्टं दापयितुं महाभाण्डागारं प्रति यास्यामि । (इति निष्क्रान्ता) ।

इति विष्कम्भकः

(ततः प्रविशति सुप्तोत्थितः सोत्कण्ठो राजा द्वारावस्थितो विदूषकश्च)

राजा—(साङ्गभङ्गमुत्थाय पठति—)

तद्वक्त्रं यदि मुद्रिता शशि-कथा हा हेम ? सा चेद् द्युति—
स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत् स्मितं का सुधा ।
धिक्कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ च यदि ते किं वा बहु ब्रूमहे ।
यत् सत्यं पुनरुक्त-वस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः ॥ १४ ॥

विदूषकः—(उपसृत्य) वड्ढदु भवं । (वर्धतां भवान् ।)

किया और रत्नों से उसी प्रकार की चतुष्किका[१] का निर्माण किया है, उन शिल्पियों को मंत्री द्वारा आदिष्ट (धन) दिलाने महाभाण्डागार को जाऊँगा । (ऐसा कहकर रंगमञ्च से चला गया ।)

इति विष्कम्भक

(तदनन्तर सोकर उठा हुआ शोकान्वित राजा और द्वारावस्थित विदूषक रंगमञ्च पर आते हैं ।)

राजा—(अङ्गों को ऐंठता हुआ उठकर कहता है)—यदि उसका मुख (संसार में) है, तो चन्द्रमा का वर्णन समाप्त हुआ अर्थात् उसके मुख के सामने चन्द्रमा की शोभा व्यर्थ है । उसकी शरीर-कान्ति की तुलना में सुवर्ण निष्फल है । उसकी भौंहों के सामने कामदेव का धनुष क्या है ? अधिक क्या कहें—सचमुच अनावश्यक पालन् इन वस्तुओं का पुनर्निर्माण करने से विधाता का सृष्टिक्रम व्यर्थ सा लगता है ॥ १४ ॥

विदूषक—(निकट जाकर) आप फलें-फूलें ।

१—चतुष्किका—चार खम्भों पर टिका हुआ कमरा अथवा पुष्करिणी (तालाब)

65118

राजा—(तदेव पठति)

विदूषकः—अहो ! अपुव्वो कोवि पाभादिओ अज्झयणविही पिअवअस्सस्स । (अहो ! अपूर्वः कोऽपि प्राभातिकोऽध्ययनविधिः प्रियवयस्यस्य ।)

राजा—(तथैव) ।

विदूषकः—अहो अस्स हिअअक्खेवो ता किं णु खु एदं । (विचिन्त्य) भोदु अणुबन्धिस्सं । णहु अणुप्पीडिओ सहआरपिट्ठ-गंठी रस-सव्वस्सं मुञ्चदि । (पुरतः स्थित्वा) परिणामफुट्टिअं विअ दाडिमफलं फुट्टणभूइट्ठं वट्टदि मे हिअअं कोदूहलेण, ता जधापत्थुदं आचक्खं-तो कज्ज-रहस्सेण संभावेदु मं पिअवअस्सो । (अहो अस्य हृदया क्षेपः । तस्मात् किं नु खल्वेतत् । भवतु अनुभन्स्यामि अनुबन्धं करिष्यामि । न खलु अनुत्पीडितः सहकारपृष्ठग्रन्थिः रस-सर्वस्वं मुञ्चति । परिणाम स्फुटितमिव दाडिमी फलं स्फुटनभूयिष्ठं वर्त्तते मे हृदयं कौतूहलेन, तस्मात् यथाप्रस्तुतं आचक्षाणः कार्यरहस्येन संभावयतु मां प्रिय वयस्यः ।)

राजा—(तदभिमुखमवलोक्य) अये चारायण ! सखे ! कथं न कथयामि,-लघूभसुहृत्सञ्चारितरहस्यं हि चेतः-संविभक्तचिन्ताभारमिव विष्यति ।

राजा—(उसी श्लोक को पढ़ता है ।)

विदूषक—अहो ! प्रिय सखा का प्राभातिक पाठ का ढंग कुछ अपूर्व सा है ।

राजा—(उसी प्रकार पढ़ता है ।)

विदूषक—अहो ! इनका हृदय कैसा विक्षिप्त सा है ! तो क्या बात है । (सोचकर) अच्छा, सम्बन्ध स्थापित करूँ जिससे प्रस्तुत का कथन करता हुआ प्रिय सखा मुझे रहस्य से परिचित कराये । आम की पृष्ठ ग्रन्थि (ढेंपी) बिना दबाए रस नहीं निकालती । कौतूहल से मेरा हृदय पकने पर फट जाने वाले अनार के समान फटा जा रहा है ।

राजा—(उसकी ओर देखकर) अये चारायण ! सखे ! क्यों न कहूँगा ? मित्र से रहस्य प्रकट कर देने से चिन्ता-भार बँट सा जाता है और इस प्रकार मन हल्का हो जाता है ।

विदूषकः—अवहिदोह्मि (अवहितोऽस्मि)

राजा—जाने स्वप्नविधौ ममाद्य-चुलकोत्सेक्यं पुरस्तादभूत्
प्रत्यूषे परिवेषमण्डलमिव ज्योत्स्नासपत्नं महः।
तस्यान्तर्नखनिस्तुषीकृतशरच्चन्द्रप्रभैरङ्गकै-
र्दृष्टा काव्यबला बलात् कृतवती सा मन्मथं मन्मथम् ॥ १५ ॥

विदूषकः—भोः सुट्ठु क्खु तुमं महिलालंपडो जादो जा सा तए णम्मदामज्जणुत्तिण्णा दिट्ठा कुवलअमाला णाम जाव तग्गदं किं पि अणुसंधेमि दाव एसो अवरो गंडस्स उवरि फुडिउब्भिदो। हुं तदो तदो। (भोः सुष्ठु खलु त्वं महिला लंपटो जातः। या सा त्वया नर्मदा मज्जनोत्तीर्णा दृष्टा कुवलयमाला नाम यावत्तद्गतं किमप्यनुसन्दधामि तावदेषोऽपरो गण्डस्योपरि स्फोटिकोद्भेदः। हुम् ततस्ततः।)

राजा—ततश्च।

आलिखितामिव चेतः फलकतलेऽस्मिन् विकल्पवर्तिकया।
बालां स्मरचित्रगतां विलोक्य जातोऽस्मि तद्वन्दी ॥ १६ ॥
(पुनस्तद्वक्त्रमित्यादि पठति)

विदूषक—मैं स्थिरचित्त हुआ।

राजा—मुझे भली भाँति ज्ञात है—आज भोर के समय स्वप्न में मण्डलाकृति तथा चन्द्रिका से प्रतिद्वन्द्विता करने वाली दीप्ति मेरे सामने प्रकट हुई। उसके अन्दर नखों से साफ किये गये शरद् के चन्द्रमा की प्रभा के समान कमनीय अंग वाली अबला दिखाई पड़ी, जिससे बलपूर्वक मन्मथ (कामदेव) को सचमुच मन्मथ (मेरी बुद्धि को नष्ट कर देने वाला) कर दिया ॥ १५ ॥

विदूषक—अच्छा, तुम स्त्री-लंपट हो गये। जो तुमने नर्मदा में स्नान करके निकली कुवलयमाला (स्त्री) देखी, उसके विषय में जब तक कुछ अनुसन्धान करूँ तब तक यह दूसरी आपत्ति। हूँ! इसके बाद।

राजा—इसके बाद (कामदेव चित्रकार ने) मेरे इस मन रूपी चित्रपट पर विकल्प की तूलिका से उसे अंकित कर दिया। कामदेव (चित्रकार) की चित्रगता उस बाला को देखकर मैं अब उसका बन्दी बन गया हूँ ॥ १६ ॥

(पुनः उसी उपर्युक्त श्लोक को पढ़ता है।)

विदूषकः—तदो (ततः)

राजा—शृणु श्रवणामृतम्, गण्डूपय मधु, पिब नयनामृतम्।

हारोऽयं केरलस्त्रीविहसितशुचिभिः पङ्क्तिभिर्मौक्तिकानां
सद्यः पाण्मासिकानां मम मदिरदृशा दत्तचन्द्रोदयश्रीः।
सोत्कण्ठं कण्ठदेशाज्झटिति कुचतटादो नमो-मन्मथाये-
त्यन्तो यन्मध्यरत्नं छुरयति ककुभः कौङ्कुमीभिः प्रभाभिः ॥ १७ ॥

विदूषकः—(यज्ञोपवीतं परिमृश्य) सुक्खकुसरज्जुकक्कसदारस्स मे वम्हणस्स वअणेण सच्चसिविणत्तणं दे भोदु। (स्वगतम्) अहो दासीए पुत्त! सिविणइंदजालिअ! जाणासि महा-मदीणं वि मदिविब्भमं कादुं (प्रकाशम्) तदो। (शुष्ककुशरज्जुकर्कशदारस्य मम ब्राह्मणस्य वचनेन सत्यस्वप्नत्वं ते भवतु। अहो दास्याः पुत्र! स्वप्नेन्द्रजालिक! जानासि महामतीनामपि मतिविभ्रमं कर्तुम्। ततः।)

राजा—ततश्च।

विदूषक—इसके बाद।

राजा—कानों के लिए अमृत (मधुर) सुनो, मधु का आचमन करो, नयनामृत पियो।

अभी पके मोतियों का यह हार केरल प्रदेश की स्त्री के हास सी श्वेत लड़ियों से जिसकी चन्द्रोदय की सी शोभा को मेरे मदिर नेत्रों ने ग्रहण किया, (नायिका द्वारा) 'ओ३म् नमो मन्मथाय—' ऐसा पढ़कर उत्कण्ठापूर्वक, शीघ्रता से कुच के ऊपर से (हटाकर) कण्ठदेश से (निकालकर) डाल दिया गया, जिसका मध्यरत्न कुंकुम की प्रभा से दिशाओं को छुरित कर रहा है ॥१७॥

विदूषक—(यज्ञोपवीत स्पर्श कर) कुश की रस्सी की तरह कर्कशा पत्नीवाले मुझ ब्राह्मण के वचन से तुम्हारा स्वप्न सत्य हो। (स्वगत) अहो दासीपुत्र! इन्द्रजालिक स्वप्न! तू बड़े-बड़े बुद्धिमानों को भी विभ्रम में डालता है। (प्रकाश) इसके बाद।

राजा—इसके बाद

कथय किमिह बाले ! का त्वमित्युल्लपन्ता
झटिति किल दुकूलस्याञ्चले धारयामि ।
अगमदथ निकेतात् काप्यसौ सारयन्ती
नव-कुवलयमालामांसलैर्दृष्टिपातैः ॥ १८ ॥

विदूषकः—अध एक्कपल्लंकगदाए देवीए किं पडिवण्णं ? (अथैकपर्यङ्कगतया देव्या किं प्रतिपन्नम् ?)

राजा—

अत्रान्तरे ललितहारलतानितम्ब-
संवाहनस्खलितवेगतरङ्गिताङ्गी ।
देवी व्यपास्य शयनं धृतमानतन्तु-
रन्तःपुरं गतवती सह सौविदल्लैः ॥ १९ ॥

विदूषकः—अहो ! दे अणागरिअत्तणं किंत्ति तुए पुरदो भविअ णाणुणीदा देवी केच्चिरं वा चन्दे पसादिदकरे अविसट्टकंदोट्टा णीलुप्पलिणी चिट्ठदि । (अहो ते अनागरिकत्वं किमिति त्वया पुरतो भूत्वा नानुनीता देवी ? कियच्चिरं वा चन्द्रे प्रसादितकरे अविसष्टोत्पला नीलोत्पलिनी । तिष्ठति ।)

हे बाले ! अहो, यहाँ क्यों, तू कौन है ? ऐसा कहते हुए मैं शीघ्र ही उसका वस्त्राञ्चल पकड़ता हूँ । (इतने में) कुवलयमाला मांसल दृष्टिपात से निर्मल करती हुई घर से निकली ॥ १८ ॥

विदूषक—उसी शय्या पर देवी भी तो थीं, उन्होंने क्या किया ?

राजा—इस बीच में जघन पर ललित हार की लड़ियों के रहने के कारण देवी का गमन-वेग बाधित हो जाता था, अतएव कम्पित शरीर वह शय्या त्याग करके मान धारण कर अन्तःपुर के अनुचरों के साथ अन्तःपुर में चली गई ॥ १९ ॥

विदूषक—आपकी अनागरिकता भी कैसी है ! आपने सामने जाकर देवी को प्रसन्न क्यों नहीं किया ? चन्द्रमा के करों (किरणों, हाथों) के फैलाने पर नीलोत्पलिनी (कुमुदों का वालय) कब तक अविकसितकुमुद रहेगी ?

राजा—(सखेदस्मितम्) तदनुध्यानपरतन्त्रचेतसा धारयितुं न पारिता किं पुनरनुनेतुम् ।

विदूषकः—सच्चं एव्व एदं किदं णडे दिट्ठे मुंडिदे उवविट्ठो पइ मुंडिदोत्ति । (सत्यमेव एतत्कृतम्—नटे दृष्टे मुण्डिते उपविष्टः पतिर्मुण्डित इति ।)

राजा—(सखेदस्मितम्) भगवत्याशे ! सत्यम् प्रतिहतासि । ननु विचारय चिरम्—

क पातव्या ज्योत्स्ना भृतभुवनगर्भाऽपि तृषितै-
र्मृणाली-तन्तुभ्यः सिचयरचना कुत्र भवतु ।
के वा पार्यामेयो बत बकुलदाम्नां परिमलः
कथं स्वप्नः साक्षात् कुवलयदृशं कल्पयतु ताम् ॥ २० ॥

(स्मृतिमभिनीय हृदयदेशमवलोक्य च)

स्वप्नः किमेष किमु संविदियं तु साक्षाज्-
ज्ञानं किमेतदुभयात्मकमन्यदेव ।

राजा—(खेद और मुस्कराहट के साथ) उस (स्वप्न में देखी गई सुन्दरी) के अनुचिन्तन में मैं उसे (देवी को) पकड़ भी नहीं सका, फिर अनुनय करने की क्या बात ।

विदूषक—नट को मुण्डित देखकर पति भी मुड़ाकर बैठा, इस (लोकोक्ति) को तुमने सच कर दिया ।

राजा—(खेद और स्मित के साथ) हे भगवति आशे ! सचमुच तुम कभी विनष्ट नहीं होती । देर तक सोचो—

भुवन के अन्दर फैली चाँदनी को प्यासे कहाँ पी पाते हैं ? कमल-नाल के तन्तुओं से वस्त्र-रचना कहाँ हो सकती है ? मौलसिरी पुष्पों की गन्ध कहाँ नापी या तौली जा सकती है ? स्वप्न साक्षात् (सत्य) कैसे हो सकता है ! कमलों के समान नेत्र वाली उस सुन्दरी की आप कल्पना कीजिए ॥ २० ॥

(स्मृति का अभिनय कर तथा हृदय को देखकर)

क्या यह स्वप्न है ? अथवा साक्षात् सत्य प्रतीति है ? अथवा क्या एक दूसरा ही उभयात्मक (सत्यासत्य-मिश्रित) ज्ञान है ! जो वह चञ्चल और

यद् दृश्यते न खलु सा तरलायताक्षी
कण्ठप्रदेशमधिरोहति चैष हारः ॥ २१ ॥

विदूषकः—मण्णे णिद्दापिणद्धेण णिअहारेण विप्पलद्धोसि। (मन्ये निद्रा-पिनद्धेन निजहारेण विप्रलब्धोऽसि।)

राजा—(मदनाकूतमभिनीय)

बाणान् संहर मुञ्च कार्मुकलतां लक्ष्यं तव त्र्यम्बकः
के नामात्र वयं शिरीषकलिकाकल्पं यदीयं मनः।
तत् कारुण्यपरिग्रहात् कुरु दयामस्मिन् विधेये जने
स्वामिन्! मन्मथ! तादृशं पुनरपि स्वप्नाद्भुतं दर्शय ॥ २२ ॥

विदूषकः—एसो सिविणअलद्धेहिं मोदएहिं गामं उवणिमंतेसि। ता एहि गदुअ देवीं पसादेह्म। वरं तक्कालोपणदो तित्तिरोण उण दिअहंतरिदो मोरो। (एष स्वप्नलब्धैर्मोदकैर्ग्राममुपनिमन्त्रयसे। तस्मादेहि देवीं प्रसादयावः। वरं तत्कालोपनतस्तित्तिरः, न पुनर्दिवसान्तरितो मयूरः।)

बड़े-बड़े नेत्रों वाली सुन्दरी दीख नहीं पड़ती और यह हार मेरे कण्ठप्रदेश में स्थित है ॥ २१ ॥

विदूषक—मैं समझता हूँ कि रात में पहने हुए अपने ही हार द्वारा तुम छले गए हो।

राजा—(कामावेश को प्रकट कर)

बाणों को बटोर लो, धनुष त्याग दो। तब शिव जी तुम्हारा लक्ष्य बन चुके हैं, तो हमारी, जिसका मन शिरीष-कलिका की भाँति (कोमल) है, क्या गणना! तो दयावान् होने के नाते इस सेवक पर दया करो। हे स्वामिन् मन्मथ! वैसा ही अद्भुत स्वप्न पुनः दिखाओ ॥ २२ ॥

विदूषक—यह तो स्वप्नलब्ध मोदकों से (इसे खाने के लिए) गाँव भर को बुलावा दे रहे हो। तो आओ, हम दोनों चलकर देवी को प्रसन्न करें। न नौ नगद न तेरह उधार।

राजा—यदभिरुचितं भवते।

विदूषकः—पणअपणमंतसामंतसहस्सअं अत्थाणमंडवमग्गम् उज्झीअ इमिणा खिडक्किआ दुआरेण पमोअउज्जाणं पविसिअ गच्छह्मा। [तथा कुरुतः] (प्रणयप्रणमत्सामन्तसहस्रकमास्थानमण्डपमार्गमुज्झित्वा अनेन गवाक्षद्वारेण प्रमोदोद्यानं प्रविश्य गच्छावः।)

(नेपथ्ये) सुखाय वसन्तावतारो भवतु देवस्य। संप्रति हि—

गर्भग्रन्थिषु वीरुधां सुमनसो मध्येऽङ्कुरं पल्लवा
वाञ्छामात्रपरिग्रहः पिकवधूकण्ठोदरे पञ्चमः।
तस्मात् त्रीणि जगन्ति जिष्णु दिवसैर्द्वित्रैर्मनोजन्मनो
देवस्यापि चिरोज्झितं यदि भवेदभ्यासवश्यं धनुः॥ २३॥

सपदि सखीभिर्निभृतं विरहवतीस्त्रातुमत्र भज्यन्ते।
सहकारमञ्जरीणां शिखोद्गतग्रन्थयः प्रथमे॥ २४॥

राजा—अये! सुरभेरम्भः। सैवेयं मन्मथसैन्यसामग्री।

राजा—जो आपको पसन्द हो।

विदूषक—विनय एवं श्रद्धा से प्रणाम करते हुए सहस्रों सामन्त हैं, अतः दरबारवाले मार्ग को छोड़कर इस गवाक्ष-द्वार से प्रमोदोद्यान में प्रवेशकर हमदोनों चलें।

(नेपथ्य में) देव को वसन्त का आगमन सुखकर हो। इस समय—

लताओं की गर्भग्रन्थियों में पुष्पों के मध्य में अंकुर और पल्लव एवं कोकिलवधू के कण्ठ के अन्दर पंचम स्वर लगभग उत्पन्न हो गया है, केवल इच्छामात्र चाहिए। मनोज देव का चिरकाल से परित्यक्त तीनों जगत् को जीतने वाला धनुष भी कदाचित् दो-तीन दिन में अभ्यास-वश्य हो जाय—अभ्यास से काम देने लगे॥ २३॥

सखियाँ तत्काल गुप्त-रीति से विरहिणियों की रक्षा करने के लिए आम्र-मञ्जरियों के अग्र-भाग में निकली ग्रन्थियों को सर्वप्रथम उपयोग में लाती हैं॥ २४॥

राजा—अये! सुरभि का आरम्भ! वही कामदेव की सैन्य-सामग्री है।

विदूषकः—वंदिवअणसुव्वमाणसिसुभावो उअवणदीसंतत्योअवित्थारो सुरहि समयारंभो । ता किं ण वण्णिज्जइ । (बन्दिवचनश्रूयमाणशिशुभावः उपवनदृश्यमानस्तोकविस्तारः सुरभिसमयारम्भः । तस्मात् किं न वर्ण्यते ।)

राजा—ततश्चात्र

सान्द्यं सम्प्रति सेवते विचकिलं पाण्मासिकैर्मौक्तिकै-
र्बाह्लीकीरदनच्छदारुणतरैः पत्रैरशोकोऽञ्चितः ।
भृङ्गीलंघितकोटिकिंशुकमिदं किंचिद्धि वृन्तायते
माञ्जिष्ठैर्मुकुलैश्च पाटलितरोरन्येव काचिल्लिपिः ॥ २५ ॥

(विचिन्त्य)

सा कापि स्वप्नविधौ दृष्टा च मधुश्च यत् समायातः ।
तदिदं मम लीढमधोरनुपानं तप्तदुग्धेन ॥ २६ ॥

विदूषकः—(परिक्रामितकेन) फलमकूरडक्करपंडरेसुं सिंदुवारमंजरीपुंजेसुं

विदूषक—वन्दी जनों के वचनों से जिसका शिशु-भाव सुना जा रहा है, उपवन में जिसका थोड़ा सा विस्तार दिखाई पड़ रहा है, (उसी) वसन्त के समय का आरम्भ है । तो क्यों न वर्णन किया जाय ।

राजा—तो इसके बाद यहाँ—

इस समय विचकिल (एक प्रकार की मल्लिका या चमेली) पुष्प पके मोतियों से समता कर रहा है । बाह्लीकी (बाह्लीक [बल्ख देश की] स्त्री) के ओठों की भाँति अत्यन्त अरुण पत्तों से अशोक वृक्ष नम्र हो गया है । यह पलाश पुष्प, जिसकी सर्वोत्कृष्टता भृङ्गी द्वारा (उसके पास न आकर) तिरस्कृत की गई, कुछ-कुछ वृन्तायमान (वृन्तों से युक्त) हो रहा है मजीठ की तरह लाल कलियों से पाटलिद्रुम (पाडर या पाटला) की एक अपूर्व शोभा है ॥२५॥

(सोचकर)

(उधर) स्वप्न में मैंने उस सुन्दरी को देखा और (इधर) वसन्त जो आ गया, यह मधु पीने के बाद गर्म दूध का पीना हो गया ॥ २६ ॥

विदूषक—(घूमकर)

कलम (धान्य विशेष) के भात के ढेर सा श्वेत सिन्दुवार (सँभालू या

तक्कालकप्पितघिअमंजिट्टेसुं असोअत्थवएसुं, निज्जिद्-मंजिट्ठमसूरमणहरेसुं, माहवीकुसुमेसुं, दधिसरिच्छेसुं णोमालिआमुअलेसुं, दरावत्तिदद्धुद्ध-मुद्धेसुं विचइल उपफुल्लपुप्फेसुं, णीसेसपसवसंपदं वज्जीअ उवमाणेसुं सज्जदि मे दिट्ठी। (कलमकुरीत्करपाण्डरेषु सिन्दुवारमञ्जरीपुञ्जेषु, तत्कालकल्पितघृतमञ्जिष्ठेषु अशोकस्तबकेषु, निर्जितमञ्जिष्ठमसूरमनोहरेषु माधवीकुसुमेषु, दधिसदृशेषु नवमल्लिकामुकुलेषु, दरावर्तितदुग्धमुग्धेषु विचकिलोत्फुल्लपुष्पेषु, निःशेषप्रसवसंपदं वर्जयित्वा उपमानेषु सजति मे दृष्टिः।

राजा—अत्र हि किलोचितोपमानाभिनिवेशिनी ते जिह्वा।

विदूषकः—(अग्रतो निर्दिश्य) रंगगणं लदा-णट्टकीणं, वाहिआलीमलआणिलतुरंगस्स, वारित्थाणं वंमहमहवारणस्स, संकेदसदणं णीसेसकुसुमाणं, पीऊसवरिसं हिअअस्स पमदुज्जाणं। ता इमं निव्वणअंतो इदो एदु पिअवअस्सो। (रंगाङ्गणं लतानर्तकीनां, वाहिरालीमलयानिलतुरङ्गस्य, वारिस्थानं मन्मथमहावारणस्य, संकेतसदनं निरशेषकुसुमानां, पीयूषवर्षं हृदयस्य प्रमोदोद्यानम्। तस्मादिदं निर्वर्णयन्नित एतु प्रियवयस्यः।)

निर्गुण्डी) के मंजरी-पुंजों, तत्काल तैयार किये गए घृत सा ईषद्रक्त अशोक के गुच्छों, लाल रंग को मात करने वाले मसूर से मनोहर वासन्ती के पुष्पों, दधि सी श्वेत नवमल्लिका की कलियों, (श्वेतता में) शंख और दूध को भ्रमित और मुग्ध बना देने वाले विचकिल (एक प्रकार की मल्लिका) के खिले हुए पुष्पों के विषय में सम्पूर्ण कुसुमसौन्दर्य एवं समृद्धि को त्याग कर केवल उपमानों पर मेरी दृष्टि जाती है।

राजा—तुम्हारी जिह्वा सचमुच उचित उपमानों में अभिनिवेश करती है—उचित उपमान कहती है।

विदूषक—लता-रूपिणी नर्तकियों की रंगभूमि, मलयानिलरूपी तुरङ्ग की वाहिराली (दौड़ने का मैदान), मन्मथरूपी मतवाले हाथी का (जल-क्रीडार्थ) जल-कुण्ड, सभी कुसुमों का संकेत स्थान (परस्पर मिलने का स्थान), हृदय को आनन्द देने वाला (यह) प्रमोदोद्यान है। अतः इसे भलीभाँति देखते हुए प्रिय सखा इधर आयें।

राजा—(पवनस्पर्शमभिनीय)

ये दोलाकेलिकारा मनसि मृगदृशां मान तन्तुच्छिदो ये
सद्यः शृङ्गारदीक्षाव्यतिकरगुरवो ये च लोकत्रयेऽपि ।
ते कण्ठे लोलयन्तः परभृतवयसां पञ्चमं रागराजम्
वान्ति स्वैरं समीराः स्मरविजयमहासाक्षिणो दाक्षिणात्याः ॥२७॥

अपि च—

सुरतभरखिन्नपन्नगविलासिनीपानकेलिजर्जरितः ।
पुनरपि विरहिश्वासैर्मलयमरुन्मांसलो भवति ॥ २८ ॥

विदूषकः—एव्वं एदं

लंकातोरणमालिआतरलिणो माणोसहं 'सिंघली
संघाणं दविडीण वम्महमहालासैकणट्टावओ ।
कण्णाडीकुरलालितंडवअरो लाटीण लीलागुरू
उम्मत्तो मरहट्टिवट्टिदमणो चेत्ताणिलो वट्टदि ॥ २९ ॥

राजा—(पवन-स्पर्श का अभिनय कर)

दोला-केलि (झूला-झूलने की क्रीडा) का सम्पादन करने वाला, मृगनयनियों के मनोगत मान-तन्तु को तोड़ने वाला, तीनों लोक में प्रेम-दीक्षा के व्यतिकरों (अड़चनों) का (निवारक) गुरु, पिकों के कण्ठ में रागराज पंचम को गति प्रदान करने वाला एवं कामदेव की विजय का महासाक्षी दक्षिणानिल स्वच्छन्द वह रहा है ॥ २७ ॥

और भी

संभोगातिरेक के कारण भ्रान्त सर्पिणी के द्वारा (भ्रान्ति-निवारणार्थ देर तक) पान किये जाने से क्षीण हुआ मलयानिल विरहीजनों के (दीर्घ) साँसों से पुनः हृष्ट-पुष्ट हो रहा है ॥ २८ ॥

विदूषक—लंका के बहिर्द्वार पर स्थित मालाओं को हिलाने वाला, सिंहली कामिनियों का मानौषध (मानभङ्ग करने के लिए औषध-स्वरूप), द्रविड़ी युवतियों के कामकृत्य का नर्त्तापक (संचालक एवं प्रेरक) कर्णाटी

(लङ्कातोरणमालिकातरलितो मानौषधं सिंहली-
संघानां द्रविडीनां मन्मथमहालास्यैकनर्त्तकः ।
कर्णाटीकुरलालिताण्डवकरो लाटीनां लीलागुरु-
रुन्मत्तो महाराष्ट्रीवर्धितमनाश्चैत्रानिलो वर्धते ॥ २९ ॥)

(संस्कृतमाश्रित्य)

इह हि नववसन्ते मञ्जरीपुञ्जरेणु-
च्छुरणधवलदेहाबद्धहेलं चरन्ति ।
तरलमलिसमूहा हारिहुंकारिकण्ठा
बहुलपरिमलाली सुन्दरं सिन्दुवारम् ॥ ३० ॥

राजा—(किञ्चिद्विहस्य) सखे ! संस्कृतेऽपि प्रगल्भसे ।

विदूषकः—तुमं वि अह्मारिसजणजोग्गे पाउदमग्गे णिवडिदोसि । ता एहि फलिहसिलामंदिरं महामंतिकारिदं केलिकेलासं पेक्खिदुं गच्छह्म । (इति परिक्रामतः) (त्वमपि अस्मादृशजनयोग्ये प्राकृतमार्गे निपतितोऽसि । तस्मादेहि स्फटिकशिलामदिरं महामंत्रिकारितं केलिकैलासं प्रेक्षितुं गच्छावः ।
कहिं उण कोंची-केंकारसुन्दरो सद्दो क्व पुनः क्रौञ्ची- केङ्कारसुन्दरः शब्दः ।)

कुरलियों को ताण्डव सिखाने वाला, लाटी ललनाओं का लीलागुरु एवं महाराष्ट्री महिलाओं के मन को बढ़ाने वाला उन्मत्त चैत्रानिल बढ़ रहा है ॥ २९ ॥

इस नव वसन्त में मंजरियों के पराग के लेप से धवलदेह, मोहक और हुंकारयुक्त कण्ठ वाले अलि-समूह सुन्दर एवं अत्यन्त सुगन्धमय सिन्दुवार की ओर जा रहे हैं ॥ ३० ॥

राजा—(कुछ हँसकर) सखे ! तुम संस्कृत में भी निपुण हो ।

विदूषक—तुम भी तो हम ऐसे लोगों के योग्य प्राकृत भाषा के मार्ग पर निपतित हो । तो आओ महामन्त्री के बनवाये स्फटिक-शिलामन्दिर—केलि-कैलास को देखने चलें । यह क्रौञ्ची-केङ्कार सुन्दर शब्द कहाँ ।

राजा—(समाकर्ण्य तदनुसारेणोर्ध्वमवलोक्य)

उपप्राकाराग्रं प्रहिणु नयने तर्कय मना-
गनाकाशे कोऽयं गलितहरिणः शीतकिरणः।
सुधाबद्ध-ग्रासैरुपवन-चकोरैरनुसृतः
किरञ्ज्योत्स्नामच्छां नवलवलिपाकप्रणयिनीम्॥ ३१॥

विदूषकः—कहिं सो (क्व सः)

राजा—अयमयम् (सविस्मयमवलोक्य) कथं न दृश्यते, किं पुनरिदम्। (वितर्क्य)

यन्मञ्जुशिञ्जितमितो रशना-मणीनां
यच्छ्वाससौरभ-बलादलयो चलन्ते।
यद्गीतयश्चलदलङ्कृतयश्च लीला-
दोलाविलासतरलस्तदयं मुखेन्दुः॥ ३२॥

राजा—(सुनता हुआ और उसके अनुसार ऊपर की ओर देखकर)

(विदूषक को सम्बोधित कर) तनिक चहारदीवारी के ऊपर दृष्टि डालो। तनिक सोचो यह कौन सा (अपूर्व) चन्द्रमा है, जिसकी स्थिति आकाश में नहीं है और न जिसके अङ्क में मृग ही है, (चन्द्रिका का पान करने के लिए) ग्रास रोक कर उपवन के चकोर जिसकी ओर आकृष्ट हैं, जो स्वच्छ निर्मल ज्योत्स्ना छिटका रहा है॥ ३१॥

विदूषक—वह कहाँ है?

राजा—यह, यह देखो। (विस्मयपूर्वक देखकर) अब क्यों नहीं दिखाई देता है, तो फिर यह क्या है? (सोचकर)

इस करधनी की मणियों की जो मधुर झनकार हो रही है, श्वास की सुगन्ध के बल से भौंरे जो आकृष्ट होते जा रहे हैं, जो ये गीत (सुनाई पड़ रहे हैं), अलङ्कार जो हिल-डुल रहे हैं, तो अवश्यमेव यह (किसी सुन्दरी का) मुख-चन्द्र है जो झूले के आगे-पीछे आने-जाने से तरल (कभी निकट, कभी दूर) दिखाई देता है॥ ३२॥

विदूषकः—किण्णु क्खु एदं । सच्चं तुए जाणिदं जदो हिंदोलिआजुअलसिहराइं इदो दीसंति । (किन्नु खल्वेतत् ? सत्यं त्वया ज्ञातं यतो हिन्दोलिकायुगलशिखरे इतो दृश्येते ।)

राजा—(पुनर्दृष्ट्वा) सखे ! अयमसावाश्चर्यश्चन्द्रमाः ।

विदूषकः—णिरणुक्कोसोक्कण्ठलोअणेहिं अह्मेहिं चन्दो खे लक्खीअदि । (निरनुक्रोशोत्कण्ठलोचनैरस्माभिश्चन्द्रः खे लक्ष्यते ।)

राजा—(निपुणं निरूप्य) सखे ! दिष्ट्या वर्धसे, स्वप्नदृष्टजनमुखपद्मसंवादिनी लावण्यलक्ष्मीः ।

विदूषकः—आः कीदिसी सा (आः कीदृशी सा)

राजा—यादृशी परिपाकपाण्डुराणां शरकाण्डानाम् ।

विदूषकः—ननु करिकलभदन्तच्छेदेसु वि सा अत्थि ज्जेव । [विचिन्त्य] चिरविरहिअहिन्दोलिआसद्दत्तणेण जाणिज्जदि अवतिण्णा सा हिन्दोलिआए । ता एहि अग्गतो गच्छह्म । [इति परिक्रामतः] (ननु करिकलभदन्तच्छेदेष्वपि साऽस्त्येव । चिरविरहितहिन्दोलिकाशब्दत्वेन ज्ञायतेऽवतीर्णा सा हिन्दोलिकातः । तस्मादेहि अग्रतो गच्छावः ।)

विदूषक—यह क्यों कर सम्भव है ? तुमने ठीक-ठीक जान लिया क्योंकि हिंडोले के दोनों सिरे यहाँ से दिखाई पड़ रहे हैं ।

राजा—(पुनः देखकर) सखे ! यह चन्द्रमा तो आश्चर्यजनक है ।

विदूषक—भली भाँति खूब अघाकर उत्कण्ठ लोचनों से हम चन्द्रमा को आकाश में देखें ।

राजा—(सम्यक् निरूपण कर) सखे ! भाग्य से तुम बढ़ रहे हो (तुम्हारी प्रसन्नता का विषय है ।) यह सौन्दर्यलक्ष्मी स्वप्न में देखी हुई सुन्दरी के मुख कमल की शोभा से बिल्कुल मिलती-जुलती दिखाई पड़ती है ।

विदूषक—अरे वह कैसी है ?

राजा—पके हुए सरकण्डों के समान गौर वर्ण ।

विदूषक—युवक-हाथी के दाँतों में भी वह (गोराई) होती है । हिंडोले का शब्द अब बन्द हो गया, जान पड़ता है कि वह हिंडोले से उतर गई । तो आओ आगे चलें ।

एदं तं केलिक्केलासं। ता उवसप्पदु पिअवअस्सो। [तथा कुरुतः]
(एतत् केलिकैलासम्, तस्मादुपसर्पतु प्रियवयस्यः।)

राजा—उद्दण्डडिण्डीरपिण्डपरिपाण्डुरेण महसाऽतिकैलासमेवेदम्।

विदूषकः—पिअ वअस्स इदो दाव आलिखिदफलिहगब्भभवणभित्तिचित्तकम्मम्मि णिवेसीअदु दिट्ठी। एस दाव देवो देवीए समं वासगिहिणीवेसी आलिहिदो। एसा वि तंबुलकरंडवाहिणी णाअवल्ली। एसा वि चामरग्गाहिणी पभंजणिआ। एसो वि जलकमंडलुओ णाम वामणओ। एसो वि मंदुरामक्कडो टप्परकण्णो णाम। (प्रियवयस्यैतत्तावद् आलिखितस्फटिकगर्भभवनभित्तिचित्रकर्मणि निवेश्यतां दृष्टिः। एष तावद्देवो देव्या समं वासकाभिनिवेशी आलिखितः। एषापि ताम्बूलकरण्डवाहिनी नागवल्ली, एषापि चामरग्राहिणी प्रभञ्जनिका, एषोऽपि जलकमण्डलुको नाम वामनः, एषोऽपि मन्दुरामर्कटष्टप्परकर्णो नाम।)

राजा—सखे! त्वमेषोऽभिलिखितः।

विदूषकः—(सक्रोधम्) णाहं जाणिदो आलिहिदुं। बम्हणी जाणादि जादिसोहं, सा मां भणदि तुमं पच्चक्खो कामदेवो त्ति। (नाहं शक्तुं आलिखितुं, ब्राह्मणी जानाति यादृशोऽहम्। सा मां भणति त्वं प्रत्यक्षः कामदेव इति।)

यह केलिकैलास है, तो प्रिय सखा धीरे-धीरे चलें। (वैसा करते हैं)

राजा—घनीभूत समुद्र फेन से अत्यन्त उज्ज्वल आभा से यह वास्तविक कैलास को मात कर रहा है।

विदूषक—प्रिय वयस्य! इधर स्फटिक से बनी हुई अन्तर्गृह की दीवारों पर बनाये गये चित्रों पर तो दृष्टि डालो। यह आप हैं—आपका चित्र है, जिसमें आप देवी के साथ शयन-गृह में अभिनिविष्ट दिखाये गए हैं। यह पानदान लिए रहनेवाली नागवल्ली है, यह चँवर डुलाने वाली प्रभंजनिका है। यह जल-कमण्डलुक वामन है। यह मन्दुरामर्कट टप्परकर्ण है।

राजा—सखे! तुम यह चित्रित हो।

विदूषक—(सक्रोध) यह मेरा चित्र नहीं ज्ञात होता। ब्राह्मणी (मेरी स्त्री) जानती है—जैसा मैं हूँ। यह मुझसे कहती है कि तुम साक्षात् कामदेव हो।

राजा—अए किमुपवने शुको वदति ।

विदूषकः—किं विअ ? (किमिव ?)

राजा—अस्ति भवान् देवः, किं पुनर्भृङ्गरिटिः ।

विदूषकः—को दुज्जणवअणाणं कण्णं देइ । (अङ्गुल्या निर्दिशन्) एसा उण सोहासमुदयेण उवहसन्ती देवीं अपुव्वा कावि आलिहिदा । (को दुर्जन-वचनानां कर्णं ददाति । एषा पुनः शोभासमुदयेनोपहसन्ती देवीमपूर्वा कापि आलिखिता ।)

राजा—इयमपूर्वैव किं पुनरस्माकं न पुनरनङ्गस्य । (सम्यग् विलोक्य) सैवेयमस्मन्मनःसारङ्गशशिलेखा । अहो रूपसंपदेतस्याः—

चक्षुर्मेचकमम्बुजं विजयते वक्त्रस्य मित्रं शशी
भ्रूसूत्रस्य सनाभिमन्मथधनुर्लावण्यपण्यं वपुः ।
रेखा कापि रदच्छदे च सुतनोर्गात्रे च तत् कामिनी-
मेनां, वर्णयिता स्मरो यदि भवेद्वैदग्ध्यमभ्यस्यति ॥ २३ ॥

राजा—अरे क्या उपवन में तोता बोलता है ? (अर्थात् तुम असत्य और निरर्थक बकते हो)।

विदूषक—क्यों ?

राजा—आप हैं तो भृङ्गरिटि क्या है ?

विदूषक—कौन दुष्टों की बातों पर ध्यान दे ? यह कोई अपूर्व सुन्दरी चित्रित है, जो शोभाधिक्य से देवी को भी लज्जित कर रही है ।

राजा—यह अपूर्व ही है, न इससे हमारा, न कामदेव का कुछ लाभ । (भली भाँति देखकर) यह तो वही है (उसी का चित्र है) जो हमारे मन रूपी मृग की चन्द्र-रेखा है । अहो ! कैसा उत्कृष्ट रूप है । इसके श्यामनेत्र नील कमल को पराजित कर रहे हैं, चन्द्रमा इसके मुख का और कामदेव का धनुष भौंहों का मित्र है । शरीर रूप का बाजार (आगार) है । सुन्दरी के ओठ पर अपूर्व (मुस्कान) की रेखा है । कामदेव यदि नैपुण्य का कुछ दिन अभ्यास करे तो कदाचित् इस सुन्दरी का वर्णन करने में समर्थ हो सके ॥ २३ ॥

विदूषकः—(स्वगतम्) का उण एसा देवीपरिवारे। (विचिन्त्य) भोदु, कोदूहलेण देवी ओल्लागदं णिअमादुलमाउअं मिअंकवम्माणं वारंवारेण विरइदमहिलावेसं कारेदि। तं च मुणिअ अण्णाअपरमत्थेहिं चित्त-करेहिं तधा ज्जेव चित्ते आलिहिद त्ति तक्केमि। ता ण विलं फोलइस्सं। भमदु दाव पिअवअस्सो। (का पुनरेषा देवीपरिवारे। भवतु, कौतूहलेन देवी ओल्लागतं निजमातुलमातुकं मृगाङ्कवर्माणं वारंवारं विरचित-महिलावेशं कारयति। तच्च ज्ञात्वाऽज्ञातपरमार्थैश्चित्रकरैस्तथैव चित्रे आलिखि-तेति तर्कयामि। तस्मान्न विलं स्फोटयिष्यामि। भ्रमतु तावत् प्रियवयस्यः।)

राजा—यथाह प्रियवयस्यः—

कन्येति सूचयति वेष-विशेष एव
यन्नीलचोलकवती लिखिताऽत्र चित्रे।
पाणिग्रहात् प्रभृति तु प्रमदाजनस्य
नीवीनिवेशसुभगः परिधानमार्गः ॥ ३४ ॥

(विमृश्य)

अहो वपुःश्रीर्लिखितुर्जनस्य स्वाकारसंवादि यदत्र चित्रम्।
इदं च पौरन्ध्रमवैमि कर्म रेखानिवेशोऽत्र यदेकवारः ॥ ३५ ॥

विदूषक—(अपने मन में) देवी के परिवार में यह कौन हो सकती है? अच्छा, देवी ओल्लागत अपने मामा के लड़के मृगांकवर्मा को बार बार स्त्री का वेष धारण कराती रहती हैं। उसी को स्त्री समझ कर, सच बात को बिना जाने चित्रकारों ने उसका उसी रूप में चित्रण कर दिया—मेरी समझ में ऐसा आता है। सो मैं रहस्योद्घाटन नहीं करूँगा। प्रिय सखा इसी प्रकार भ्रम में पड़ा रहे। (स्पष्ट कहता है) वेष-भूषा से यह कन्या मालूम पड़ती है।

राजा—जैसा प्रिय सखा कह रहे हैं (वही है) इसका विशेष वेष ही बता रहा है कि यह कन्या है क्योंकि चित्र में नीले वर्ण की चोली पहिने हुए चित्रित की गई है। पाणि-ग्रहण के बाद से तो स्त्रियों के पहिनने का ढंग नीवी की सजावट से सुन्दर हो जाता है—वे नीवी के बन्धन पर विशेष ध्यान रखने लगती हैं ॥३४॥

(सोचकर)

अहो! कैसा शरीर-सौन्दर्य है! यह चित्र तो ऐसा बन पड़ा है कि मालूम होता है कि चित्रकार ने अपना ही रूप चित्रित कर दिया है। मैं समझता हूँ—

(सम्यग् विभाव्य) तदियं मकरध्वजवैजयन्ती काऽपि स्वयमेव स्वं लिखितवतीति निर्णीयते ।

विदूषकः—सच्चं एदं, जदो गरिट्ठजणगोट्ठीसु इत्थं करिआ सुणीअदि । जादिसो चित्तअरो तादिसी चित्तअम्मरुअसोहा, जादिसो कई तादिसी कव्वबन्धछाअ त्ति । (सत्यमेतत्, यतो गरिष्ठजनगोष्ठीष्वित्थं कारिका श्रूयते । यादृशश्चित्रकरस्तादृशी चित्रकर्मरूपशोभा, यादृशः कविस्तादृशी काव्य-बन्धच्छायेति ।)

राजा—युज्यते, आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः । अपि च सखे ! चारायण !

क्रमपरिणतरेखामांसलैरङ्गभागै-
लघुरपि लिखितेयं लक्ष्यते पूर्णमूर्तिः ।
अयमपि सुकुमारः सात्त्विकानां निवेश-
श्चतुरमसृणमुग्धं भावमाविष्करोति ॥ ३६ ॥

यह काम किसी सुगृहिणी का है । उसका इतना अधिक अभ्यास है कि रेखाओं को केवल एक बार ही खींच देने से काम पूरा हो गया—दुबारा उसे ठीक करने के लिए रेखायें नहीं खींचनी पड़ीं ॥ ३५ ॥

(भलीभाँति सोचकर) तो यह कोई कामदेव की पताका अर्थात् परम सुन्दरी है, जिसने स्वयं ही अपने को चित्रित किया है—इसी निर्णय पर पहुँचता हूँ ।

विदूषक—यह बात बिलकुल सच है । विद्वानों की गोष्ठियों में ऐसा सुना जाता है कि जो जैसा चित्रकार वैसा ही उसका चित्र, जैसा कवि वैसा ही उसका काव्य ।

राजा—ठीक है, गुण निस्सन्देह आकृति के अनुरूप होते हैं । और सखे चारायण ! सभी अंग क्रम से परिणत रेखाओं से मांसल हैं, जिससे लघुरूप में चित्रित भी पूर्ण मूर्ति दिखाई पड़ती है । सात्त्विक भावों के सुन्दर संनिवेश से मनोज्ञ एवं स्निग्ध मुग्धभाव (सीधापन) स्पष्ट प्रकट हो रहा है ॥ ३६ ॥

विदूषकः—इदो देवी मज्जनवदिअरे घरे सपरिआरा आलिहिदा। (इतो देवी मज्जनव्यतिकरे गृहे सपरिवारालिखिता ।)

राजा—इदमेव रूपरत्नं सम्भावयावस्तावत् ।

विदूषकः—इहावि सा अत्थि ज्जेव्व । (इहाऽपि सास्त्येव ।)

राजा—(आत्मगतम्) एकं चक्षुरनेकत्र सा । (विदूषकं प्रति) क्वासौ ?

विदूषक—इअमिअं (इयमियम्)

राजा—(विलोक्य सोत्कण्ठम्)

येनोत्पलानि च शशी च मृणालिकाश्च
रम्भादलश्च कमलानि च निर्मितानि ।
नूनं स एव मृगशावदृशोऽपि वेधाः
संचितक्रमो यदयमेकतया चकास्ति ।। ३७ ।।

विदूषकः—(स्तम्भे शालभञ्जिकां विलोक्य) इअं पि सच्चं ज्जेव । (इदमपि सत्यैव ।)

विदूषक—इधर देखिये, स्नानागार में देवी परिजन—समेत चित्रित की गई हैं।

राजा—हम दोनों पहले इसी रूप-रत्न (जिसका निर्देश पहले किया जा चुका है, जो देवी के सौन्दर्य को भी मात कर रहा है) पर विचार करें।

विदूषक—यहाँ भी वह है।

राजा—(अपने मन में) मेरी अकेली दृष्टि, और वह अनेक जगह है। (विदूषक से) कहाँ है यह ?

विदूषक—यह, यह।

राजा—देखकर उत्कण्ठापूर्वक।

जिस विधाता ने नीलोत्पल, चन्द्रमा, मृणालिका, कदली-पत्र और कमलों को रचा है, उसी ने इस मृगनयनी का भी निर्माण किया है तभी तो उस विधाता का उक्त सभी वस्तुओं के रचने का सारा अनुभव इकट्ठे ही यहाँ इस रमणी में झलक रहा है।। ३७ ।।

विदूषक—(खम्भे पर मूर्ति देखकर) यह भी ठीक ठीक वही है

राजा—इयमपि साऽस्मद्विलोचनचकोरचन्द्रिका। (विलोक्य सोत्कण्ठम्)

सा दुग्धमुग्धमधुरच्छविरङ्गयष्टि-
स्ते लोचने तरुणकैतकपत्रदीर्घे।
कम्बोर्विडम्बनकरश्च स एव कण्ठः
सैवेयमिन्दुवदना मदनायुधं वा॥ ३८॥

(सवितर्कम्)

न स्वप्नानुभवस्य कश्चिदपरः सब्रह्मचारी मम
स्यात्संकल्पकृतश्चकास्ति मनसः कस्यैव रेखाक्रमः।
तन्मन्ये क्व चिदस्त्यसौ कुवलयच्छायामुषा चक्षुषा
यत्सादृश्यपरिग्रहादिह दृशौ दीर्घे समावासिते॥ ३९॥

(विभाव्य) भवतु, पुनर्योग्यस्थानविन्यासमासादयतु स्वप्नहारः, संचरतु शालभञ्जिकारूपाया अप्येतस्याः कण्ठमूलम्, अलंकरोतु बालविचकिलवल्लीं कोरकनिकुरम्ब इति। (तथा करोति)

राजा—यह भी वही, हमारे नेत्ररूपी चकोरों की चन्द्रिका है। (देखकर उत्कण्ठापूर्वक)।

दूध से भी बढ़कर स्निग्ध शोभा वाला वही छरहरा अङ्ग है, नवीन केतकी-पत्र की भाँति दीर्घ वही नेत्र हैं, शंख को लज्जित करने वाला वही कण्ठ है, यह वही चन्द्रमुखी वा मदनास्त्र है (जिसे देखने से कामपीडा होती है।) ॥३८॥

(सवितर्क)

स्वप्न में मैंने जो अनुभव किया है, उसके समान और कोई अनुभव नहीं हो सकता है। किसके मन के संकल्पों से बनाया हुआ यह रेखाओं का क्रम शोभित हो सकता है। कुवलयों की कान्ति को चुराने वाले नेत्रों के द्वारा जिसके सादृश्य का ग्रहण करके ये आँखें दीर्घ एवं उसके सदृश हो गई हैं, मैं तो मानता हूँ कि वह है कहीं पर अवश्य।

(सोच-समझकर) अच्छा तो यह स्वप्नहार योग्य स्थान पर रख दिया जाय। मूर्तिरूपा इस (सुन्दरी) के कण्ठमूल को, विचकिल नवलता को कली-वृन्द की भाँति, अलंकृत करें।

विदूषकः—इदो वि चित्तगदा स ज्जेव। (सोल्लासम्) णिअंकणवि-बिंबमालाहिं विप्पलद्धम्हि। अयं उण पच्चक्खो पुण्णिमा चन्दो। (इतोऽपि चित्रगता सैव। मो मृगाङ्कप्रतिबिम्बमालाभिर्विप्रलब्धोऽस्मि। अयं पुनः प्रत्यक्षः पूर्णिमाचन्द्रः।)

राजा—क्व पुनरसावस्मन्नयनामृतवर्तिः।

विदूषकः—इयमियम्। या हरिणंकखण्डपंडरेहिं तिरिच्छेहिं दिट्ठिच्छडाकडक्खेहिं विप्फुरेदि दिम्मुहाइं, पाणिसंचलणेण विच्छुरेदि कंकेलिपल्लवाइं, चरणचालणेण विरएदि पंकेरुहसंकासनाउलाइं भमरजालाइं। (इयमियम्। या हरिणाङ्कखण्डपाण्डरैस्तिर्यग्भिर्दृष्टिच्छटा-कटाक्षैर्विस्फुरयति दिङ्मुखानि, पाणिसंचलनेन विच्छुरयति कङ्केलिपल्लवानि, चरणचालनेन विरचयति पङ्केरुहशङ्कासमाकुलानि भ्रमर-जालानि।)

राजा—भवदाशंसिता सत्यस्वप्नतैव संवृत्ता। (विलोक्य) सैवेयं सञ्जीवनौषधिर्मकरध्वजस्य विशल्यकरणौषधिर्मे हृदयोद्भेदस्य।

(विभाव्य)

मात्रानर्तितमण्डनभ्रु वदनं किंचित्प्रगल्भे दृशौ
स्तोकोद्भेदनिवेशितस्तनतुगे मध्यं दरिद्राति च।

विदूषक—इधर भी वही चित्रित है। अरे चन्द्रमण्डल द्वारा मैं धोखे में पड़ गया, वास्तव में यह प्रत्यक्ष पूर्णिमा का चन्द्र है।

राजा—कहाँ है वह हमारे नेत्रों की अमृतवर्तिका।

विदूषक—यह, यह। जो चन्द्रखण्ड की भाँति श्वेत एवं तिर्यक् तिरछे नेत्र के कटाक्षों से दिशाओं को चमत्कृत कर रही है, पाणि-संचलन से अशोक के पल्लवों को विच्छुरित कर रही है तथा जिसके चरण-संचालन से भौरों की कमल की शङ्का हो रही है।

राजा—आप ने जैसा पहले कहा था, वास्तव में स्वप्न सत्य हो गया। (देखकर) यह वही कामदेव की संजीवनौषधि है, मेरे हृदय के घाव की विशल्य (कष्टरहित) करने वाली औषधि है।

(सोचकर)

उसके नेत्र कुछ धृष्ट हैं एवं वक्षस्थल में स्तनों का थोड़ा थोड़ा उभार हुआ है। उसका कटिभाग क्षीण है, नितम्बस्थल स्थूल है। उस मृग नयनी के सुन्दर

अत्या यज्जघनं घनं च कलया प्रत्यङ्गमेणीदृशः
सत्यंकार इव स्मरैकसुहृदा तद् यौवनेनार्पितः ॥४०॥

विदूषकः—उल्लसिदभूलदेण उद्दंगुलिकरकमलेण च अमुणा संट्ठाणेण किं पि कुणंती एसा चिट्ठदि। (उल्लसितभ्रूलतेन उदङ्गुलीककरकमलेन चामुना संस्थानेन किमपि कुर्वत्येषा तिष्ठति।)

राजा—यद् भ्रूलते तरलिते यदुदङ्गुलीकः
पाणिः पुरो यदपि चक्षुरलग्नलक्ष्यम्।
उन्मुद्रिताधरदलं च यदास्यमस्या—
स्तत्कार्यकर्मणि निपक्तमवैमि चेतः ॥ ४१

विदूषकः—एवं एदं जदो पुरदो इमाए अद्धलिहिदा अक्खरावली चिट्ठदि। (एवमेतत् यतः पुरतोऽस्या अर्धलिखिता अक्षरावली तिष्ठति।)

राजा—वाचयति—

विधत्ते सोल्लेखं कवरदिह नाङ्गं तरुणिमा।

(विमृश्य) अहो! गाढत्वम्। अहो! शिखरिणीपादः। अहो!

शरीर को मानो कामदेव के अनन्यमित्र यौवन ने सत्यङ्कार (काम को पूरा करने के लिए जमानत के रूप में पेशगी दी हुई रकम) के रूप में अर्पित किया ॥४०॥

विदूषक—इसकी भौंहें उल्लसित हैं, गतिशील कर-कमलों की उँगुलियाँ ऊपर उठी है। ऐसी स्थिति में यह कुछ करती हुई मालूम होती है।

राजा—मैं समझता हूँ कि इसका मन किसी काम के करने में लीन है क्योंकि इसकी भौंहें चञ्चल हैं, हाथ की उँगुलियाँ ऊपर की ओर उठी हैं, नेत्र किसी लक्ष्य पर लगा नहीं है (अर्थात् सामने की ओर न देखकर नीचे की ओर देख रही है) अधर-दल खिला हुआ है ॥ ४१ ॥

विदूषक—ऐसा ही है, क्योंकि इसके सामने आधा लिखा वाक्य है।

राजा—बाँचता है—

तारुण्य किस अङ्ग को सुन्दर नहीं बना देता है।

(सोचकर) अहो! कैसी गम्भीरता है, कैसा सुन्दर शिखरिणी का चरण

सूक्तियुक्ता वाचः । अहो ! हृद्या वैदर्भी रीतिः । अहो ! माधुर्यं पर्याप्तम्। अहो निष्प्रमादः प्रसादः ।

विदूषकः—ता उचिदक्खले अभिसरीअदु सुन्दरी पिज्जदु णअणंजलिसंपुडेहिं पुण्णिमाचंदो, पूरिज्जंतु कण्णकुहराइं सुहासिदरसायणेहिं णच्चावीअदु रहस्सुत्थंभिदहत्थो मअणणट्टावओ । (तस्मादुचितकालेऽभिसर्यतां सुन्दरी । पीयतां नयनाञ्जलिसम्पुटैः पूर्णिमाचन्द्रः । पूर्यन्तां कर्णकुहराणि सुभाषितरसायनैः । नर्त्यतां रहस्योत्तंभितहस्तो मदननर्तकः ।)

राजा—(पदान्तरे स्थित्वा, चतुर्दिशमवलोक्य) अहो ! दयिताद्वैतं वर्तते। तथाहि—

सुतनुरियमितस्ततश्च चित्रे गुणगुरुरत्नं च शालभञ्जिकेयम् ।
स्थितमिव सुतनोर्वपुश्चतुर्धा स्मरशरतापरुजं विभज्य सोढुम् ॥४२॥

तदेहि, समुपसृत्य सुभाषितेन श्रवणे कृतार्थयावः । न खलु व्यापारमन्तरेण करकलितापि शुक्तिर्विमुञ्चति मौक्तिकानि इति ।

(उभौ परिक्रामतः)

विदूषकः—(पुरतः सरन् भीत्या आस्फोटं नाटयित्वा) भो ओसर ओसर, भूदंतरं क्खु किं पि एदं, ता इमिणा पडिकुविददेवीभूलदाभंगकुडिलेन

है, कैसी सूक्ति युक्त वाणी है। अहो ! कितनी मनोहर वैदर्भी रीति है। अहो ! पर्याप्त माधुर्य है। अहो ! कैसा विशुद्ध प्रसाद गुण है।

विदूषक—तो उचित अवसर पर सुन्दरी के निकट चलिये। नेत्रों से पूर्णिमा चन्द्र का पान कीजिए। कर्णकुहरों को सुभाषित रसायनों से पूर्ण कीजिए। रहस्य से उत्तंभितहस्त मदन नर्तक को नचाइये।

राजा—(एक पद की दूरी पर खड़ा होकर, चारो ओर देखकर) दो युगल सुन्दरियाँ उपस्थित हैं। इधर यह सुन्दरी और उधर चित्र में गुणगरिमा पूर्ण यह मूर्ति, मानों कामदेव के बाण-जन्य संताप को अलग-अलग बाँट कर सहने के लिए इस सुन्दरी का शरीर चार प्रकार में हो गया है ॥ ४२ ॥

तो आओ, निकट चलकर मधुर वचन से कर्णों को कृतार्थ करें। बिना उद्योग के हस्तगत सीप भी मोतियों को बाहर नहीं निकालती।

(दोनों घूमते हैं)

विदूषक—हटो, हटो। यह तो कोई भूत है, तो मैं क्रुद्ध हुई देवी की भौंहों

डकट्ठेण तडित् ताडयिस्सं ता पेक्ख मे पुरिस आरम्। (भो अपसरापसर भूतान्तरं खलु किमप्येतत्। तस्मादनेन परिकुपितदेवीभ्रूलतामङ्गकुटिलेन दण्डकाष्ठेन तडिति ताडयिष्यामि तत् पश्य मे पुरुषकारम्।)

राजा—तर्हि मालतीमुकुलैर्दुकूलं कल्पयिष्यसि।

विदूषकः—ता किं णु क्खु एदं (तस्मात् किन्तु खल्वेतत्)

राजा—सखे! तर्कयामि स्फटिकभित्तेः परतः स्थितया स्वच्छभावादितः सुव्यक्तयाऽनया भवितव्यम्। तदेहि, केलिकैलासपश्चिमेनैनां सम्भावयामः (तथा कुरुतः)

विदूषकः—तुरिदतरमवक्कन्ता सा, जदो असमंजसा इदो देवीवासभवणाहिमुही पअपंती दीसइ। (त्वरिततरमपक्रान्ता सा, यतोऽसमञ्जसा इतो देवीवासभवनाभिमुखी पदपंक्तिर्दृश्यते।)

राजा—हृदय! स्वस्ति भवते। एनामनुवर्तता स्मर्तव्या वयम्।

(नेपथ्ये) जय जय त्रिलिङ्गाधिपते! सुखाय मध्यन्दिनं भवतु भवतः। सम्प्रति हि—

के समान टेढ़े इस डण्डे से इसे 'तड़' से पीटूँगा। मेरा पौरुष देखो।

राजा—उस अवसर पर मालती की कलियों से वस्त्र बनाओगे—मालती कुञ्ज में घुसकर छिप जाओगे।

विदूषक—तो फिर यह क्या है?

राजा—सखे! मैं सोचता हूँ कि स्फटिक की दीवाल के दूसरी ओर खड़ी सुन्दरी दीवार के स्वच्छ होने से इधर सुव्यक्त हो रही है। तो आओ केलिकैलास के पीछे से इसका परिचय प्राप्त करें। (वैसा करते हैं)

विदूषक—वह अभी अभी भग गई क्योंकि देवी के वास-भवन की ओर अस्पष्ट पद-चिह्न दिखाई देते हैं।

राजा—मित्र! आपका कल्याण हो। इस सुन्दरी का अनुगमन करते हमें याद रखियेगा।

(नेपथ्य में) त्रिलिङ्गाधिपति की जय हो। दोपहर की वेला आप के लिए सुखकर हो। इस समय—

घत्ते पद्मलता दलेस्तुहुपरि स्वं कर्णतालं द्विपः
शष्पस्तम्बरसान्नियच्छति शिखी मध्येशिखण्डं शिरः ।
मिथ्यालीढमृणालकोटिरभसाद् दंष्ट्राङ्कुरं शूकरो
मध्याह्ने महिषश्च वाञ्छति निजच्छायं महाकर्दमम् ॥४३॥

अपि च

विशन्तीनां स्नातुं जघननिविशेषैर्मृगदृशां
यदम्भः संप्राप्तं प्रमदवनवाप्यास्तटभुवम् ।
गभीरे तन्नाभीकुहरपरिणाहाध्वनि सरत्
कुहूङ्कारस्फारं रचयति च नादं भ्रमति च ॥४४॥

विदूषकः—भो,देवीए भवणं गदुअ मज्झण्णसंझं णिव्वत्तिअ तिस्सा पउत्तिं लक्खीअदु । (भोः, देव्याः भवनं गत्वा मध्याह्नसन्ध्यां निर्वर्त्य तस्याः प्रवृत्तिर्लक्ष्यताम् ।)

इति श्रीबालकविकविराजराजशेखरविरचितायां विद्धशाल-
भञ्जिकाख्यनाटिकायां प्रथमोऽङ्कः ।

पद्मलता के दलने का इच्छुक हाथी दोपहर की गर्मी से व्याकुल हो अपने ऊपर अपने बड़े बड़े कानों को चला रहा है, घासों के रसास्वादन को त्यागकर मयूर अपने सिर को अपने पंखों के अन्दर छिपा रहा है। सुअर ने कमल की जड़ को खोद खोद कर खाना बन्द कर दिया है और भैंसा अपने शरीर पर लेप करने के लिए गहरे कीचड़ की इच्छा कर रहा है ॥ ४३ ॥

और भी

स्नान के निमित्त प्रवेश करती हुई मृगनयनियों के जघन प्रदेश तक जल में जाने पर प्रमद-वन की बावली का जल पहले तो धक्के से तट-भूमि की ओर चला गया। तदनन्तर उन मृगनयनियों की गम्भीरनाभि में वेग से घुसता हुआ उच्च स्वरित 'कुहू' ध्वनि करता और चक्कर काटने लगता है ॥

विदूषक—भोः, महारानी के भवन में चलकर मध्याह्नकालीन सन्ध्योपासन कर उस सुन्दरी का वृत्तान्त जानें ।

प्रथम अङ्क की हिन्दी व्याख्या समाप्त

★

अथ द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशतः सम्मुखीने चेट्यौ) ।

एका—(परिक्रम्य इतरामञ्चले विधार्य) हला तरंगिए ! हिअअ-पदिट्ठि-दराअक्खराविअ लक्खीअसि । जदो संमुहागदं पि मं अणालविय थिदासि । (हला तरंगिके, हृदयप्रतिष्ठितराजाक्षरेव लक्ष्यसे । यतः सम्मुखगतामपि मामनालप्य स्थितासि ।)

द्वितीया—(समालिङ्गय) सहि कुरंगिए ! मा कुप्प, गौरी मे कुप्पदु, जइ तं मए दिट्ठासि अण्णहिअअत्तणेण । (सखि कुरंगिके ! मा कुप्य, गौरी मे कुप्यतु यदि त्वं मया दृष्टासि अन्यहृदयत्वेन ।

कुरङ्गिका—सहि ! कीदिसं अण्णहिअअत्तणं । (सखि ! कीदृशमन्य-हृदयत्वम् ?)

तरङ्गिका—वादिसं, जादिसेण तुह वि पुरदो मंतअंतीए वि उक्कंपदि विअ मे हिअअं । (तादृशं, यादृशेन तवापि पुरतो मन्त्रयमाणाया अपि उत्कम्पत इव मे हृदयम्)

(इसके बाद दो दासियाँ एक दूसरे के आमने-सामने प्रवेश करती हैं)

एक—(घूमकर दूसरी का अञ्चल पकड़कर)

हे तरंगिके ! मालूम होता है कि तुम्हारे हृदय में राजा की मूर्ति प्रतिष्ठित है, जिसके ध्यान में तुम लीन हो । इसीलिए यद्यपि मैं सामने आई, तथापि तुमने बात-चीत नहीं की ।

दूसरी—सखि कुरंगिके ! नाराज न हो ! मुझ पर देवी जी कोप करें यदि मैंने तुमको अन्यमनस्क भाव से देखा हो ।

कुरङ्गिका—सखि अन्यमनस्कता कैसी होती है ?

तरङ्गिका—वैसी, जैसे तुम्हारे भी सामने गुप्त बातों को कहते हुए मेरा हृदय काँपता सा है ।

कुर०—हिअअणिव्विसेसम्मि जणे आसंकंतों कोदूहलं मं पुच्छावेदि। (हृदयनिर्विशेषेऽपि जने आशङ्कमानां कौतूहलं मां प्रच्छयति ।)

तर०—जहा तहा भोदु ण पच्छादइस्सं, णहि सिणेहो जुत्ताजुत्तमनुरुंधेदि। (यथा तथा भवतु न प्रच्छादयिष्यामि । न हि स्नेहो युक्तायुक्तमनुरुणद्धि ।)

कुर०—अदो ज्जेव्व मे आसंघो कधं विअ सहकारलट्ठीए कलकण्ठी कुंठिदप्पंणआ होदि । (अत एव मे आशङ्का कथमिव सहकारयष्ट्यां कलकण्ठी कुण्ठितप्रणया भवति ।)

तर०—एव्वं तथा वि भणीअदि सुदमंतसंरक्खणं क्खु कज्जसिद्धिए कारणं । (एवं तथापि भण्यते, श्रुतमन्त्रसंरक्षणं खलु कार्यसिद्धेः कारणम्)

कुर०—मा एव्वं भण, कधं विअ जीअंतादो किकलासादो सिरसुवण्णं पावीअदि । (मैवं भण, कथमिव जीवतः कृकलासाच्छिरः सुवर्णं प्राप्यते ।)

तर०—सुणादु पिअसही । अत्थि एत्थ कुंतलेसुं चंडमहासेणो णाम राआ, तस्स णिअराज्जपरिब्भट्टस्स इह आगदस्स दुहिआ कुवलयमाला णाम णम्मदामज्जणुत्तिण्णा देवदिट्ठा हिअअं च से पविट्ठा। तं च

कुरङ्गिका—अभिन्न हृदय पर भी शङ्का करती हुई मुझको कौतूहल पूछने के लिए प्रेरित करता है ।

तरङ्गिका—जैसा भी हो, मैं नहीं छिपाऊँगी। स्नेह उचित और अनुचित का लिहाज नहीं करता ।

कुरङ्गिका—मेरी यह आशङ्का है—सहकार की डाली से कोयल का प्रणय मन्द कैसे हो सकता है ।

तरङ्गिका—अच्छा, मैं तुमसे कहती हूँ—सुनी बातों को गुप्त रखने से ही कार्य की सिद्धि होती है ।

कुरङ्गिका—ऐसा मत कहो—गिरगिट के जीते जी उसका सुनहरा सिर कैसे कोई पा सकता है ।

तरङ्गिका—प्रियसखि ! सुनो—कुन्तल देश में चण्डमहासेन नामक राजा है। वह राज्य-परिभ्रष्ट यहाँ आया है । उसकी कन्या कुवलयमाला नर्मदा में स्नान करके निकली ही थी कि महाराज ने उसे देखा और वह उनके हृदय में

पडिच्छिदवदी देवी णिअमादुलभावुकस्स मिअंकवम्मस्स किदे। तण्णिमित्तं अ विवाहोअरणाइं सज्जीकादुं पेसिदह्मि। तग्गदमणए मए ण तुमं लक्खिदासि। (शृणोतु प्रियसखी) अस्त्यत्र कुन्तलेषु चण्डमहासेनो नाम राजा तस्य निजराज्यपरिभ्रष्टस्य इहागतस्य दुहिता कुवलयमाला नाम नर्मदामज्जनोत्तीर्णा देवदृष्ट्या हृदयञ्चास्य प्रविष्टा। ताञ्च प्रतीष्टवती, देवी निजमातुलभावुकस्य मृगाङ्कवर्मणः कृते। तन्निमित्तञ्च विवाहोपकरणानि सज्जीकर्तुं प्रेषितास्मि। तद्गतमनसा मया त्वं न लक्षितासि।)

कुर०—अहो देवीए विदद्धत्तणं एव्वं किल किदे सवत्तीलाभो परिहदो भोदि, चंदवम्ममादुलस्स सिणेहो वि दंसिदो भोदि। (अहो देव्या विदग्धत्वं, एवं किल कृते सपत्नीलाभः परिहृतो भवति, चन्द्रवर्मणो मातुः स्नेहोऽपि दर्शितो भवति।)

तर०—तुमं उण कहिं पत्थिदासि। (त्वं पुनः क्व प्रस्थितासि।)

कुर०—अज्ज देवीए अलिअविवाहेण विडंबिदुं आणत्तो अज्जचारा-अणो। तद्विवाहसामग्गीं संपादेदुं उण अहं पेसिदम्हि। ता एहि दुवे वि अहो जधासमीहिअकज्जसिद्धीए गच्छह्म। [इति निष्क्रान्ते] (अद्य देव्या अलीकविवाहेन विडम्बयितुमाज्ञप्त आर्यचारायणः, तद्विवाहसामग्रीं

समायी हुई है। महारानी जी उस (कुवलयमाला) को अपने मामा के पुत्र मृगाङ्कवर्मा के लिए चाहती हैं। उसी के निमित्त विवाह-सामग्री तैयार करने के लिए मैं भेजी गई हूँ। उनके कार्य में मेरा मन लगा था, इसी से तुम्हारी ओर ध्यान नहीं गया।

कुरङ्गिका—महारानी का भी कैसा चातुर्य है। ऐसा करने से एक सौत के आने की आशंका भी दूर हो जायेगी और उधर चन्द्रवर्मा की माता का स्नेह भी दर्शित होगा।

तरङ्गिका—तुम कहाँ जा रही हो ?

कुरङ्गिका—आज महारानी जी मिथ्या-विवाह से आर्य-चारायण की विडम्बना करना चाहती हैं। उसी विवाह की सामग्री तैयार करने के लिए

संपादयितुं पुनरहं प्रेषितास्मि । तस्मादेहि द्वे अपि आवां यथात्मीयकार्यसिद्धये गच्छाव: ।)

इति प्रवेशक:

(तत: प्रविशति सोत्कण्ठो राजा विशेषविभूषितो विदूषकश्च)

राजा—(मदनाकृतमभिनीय)

तस्मिन् पञ्चशरे स्मरे भगवता भर्गेण भस्मीकृते
जानाम्यक्षयसायकं कमलभू: कामान्तरं निर्ममे ।
यस्यामीभिरितस्ततश्च विशिखैरापुङ्खमग्नात्मभि-
र्जातं मे विदलत्कदम्बमुकुलस्पष्टोपमानं वपु: ॥ १ ॥

(सन्तापमभिनीय)

विलीयेन्दु: साक्षादमृतरसवापी यदि भवेत्
कलङ्कस्तत्रत्यो यदि च विकचेन्दीवरवनम् ।
तत: स्नानक्रीडाजनितजडभावैरवयवै:
कदाचिन्मुञ्चेयं मदनशिखिपीडापरिभवम् ॥ २ ॥

मैं भेजी गई हूँ। तो आवो अपने-अपने काम को पूरा करने के लिए दोनों चलें।

इति प्रवेशक

(उत्कण्ठित राजा और विशेष सुसज्जित विदूषक रंगमञ्च पर आते हैं)

राजा—(कामावेग को प्रकट करता हुआ)

मालूम होता है—पाँच बाण वाले कामदेवको जब शंकर भगवान् ने भस्म कर दिया तो ब्रह्मा ने एक दूसरे ही अक्षय बाणों वाले कामदेव की रचना की है, जिसके बाण हर तरफ से मेरे शरीर में पुङ्खभाग तक गहरे घुस गये हैं और मेरा शरीर कदम्बकी खिलती हुई कलियों के उपमान-भाव को प्राप्त हो गया ॥१॥

(सन्ताप का अभिनय कर)

यदि चन्द्रमा गल कर साक्षात् अमृत रस की बावली हो जाय और उसका कलङ्क (चिह्न) कमल-वन के रूप में विकसित हो जाय और उसमें स्नान करने से मेरे अङ्ग शीतल हों, तब कदाचित् कामदेव के बाणों की पीड़ा दूर हो सके ॥ २ ॥

अपि च, सखे चारायण !

> मन्द्रादरः कुसुमपत्रिषु पेलवेषु
> नूनं बिभर्ति मदनः पवनास्त्रमद्य ।
> द्राक्प्रकाण्डसरलाः कथमन्यथाऽमी
> श्वासाः प्रनर्तितदुकूलदशाः सरन्ति ॥ ३ ॥

तन् फुल्लातिमुकलतालाञ्छनस्य तुषारपुञ्जनाम्नः कदलीगृहस्य मार्गमादिश ।

विदूषकः—(संज्ञया निर्दिशति)

राजा—कथमक्षुण्णा मौनमुद्रा ?

विदूषकः—(भूमावक्षराणि लिखति)

राजा—अष्टादशलिपिविदो वयं न त्वदीयाक्षरग्रहणे विचक्षणाः ।

विदूषकः—(दन्तैर्जिह्वामवष्टभ्य) भो ! दिक्खिदः क्खु अहं मउणे चिट्ठामि । (दीक्षितः खल्वहं मौने तिष्ठामि ।)

और भी, मित्र चारायण !

मालूम होता है कामदेव अब कोमल कुसुम-शरों का तिरस्कार कर पवन का अस्त्र धारण करने लगा है। इसीलिए मेरी साँसें नासा से स्कन्धपर्यन्त इतनी सीधी लम्बी निकल रही हैं, जिनसे शरीर के वस्त्र चञ्चल हो रहे हैं ॥ ३ ॥

फूली हुई माधवीलता जिसका पहिचान का चिह्न है, तुषारपुञ्ज नामक कदलीगृह का मार्ग बताओ ।

विदूषक—(सङ्केत से बताता है)

राजा—कैसी यह मौनमुद्रा है जो टूट नहीं रही है।

विदूषक—(भूमि पर अक्षर लिखता है)

राजा—हम अठारह लिपियाँ जानते हैं परन्तु तुम्हारे अक्षरों को पढ़ने में असमर्थ हैं।

विदूषक—(दाँतों तले जीभ दबाकर) अरे मैं दीक्षा ग्रहण कर चुका हूँ, अतः मौन धारण किये हूँ।

राजा—किमिति ?

विदूषकः—देवी मं संपदं परिणाइस्सदि । (देवी मां साम्प्रतं परिणाय- यिष्यति ।)

राजा—तामेव चिरन्तनब्राह्मणीम् ।

विदूषकः—णहि णहि । (नहि नहि)

राजा—अन्या का ?

विदूषकः—ओअल्लागदस्स मिअंकवम्मस्स पुरोहिदस्स दुहिदा क्खु एसा । (ओयल्लागतस्य मृगाङ्कवर्मणः पुरोहितस्य दुहिता खल्वेषा ।)

राजा—किंनामधेयः पुरोहितः ?

विदूषकः—ससर्सिगो, घरिणी इमस्स मिअतिह्निआ, भविस्सघरिणी अ मे तद्दुहिदा अंबरमाला णाम । (शशशृङ्ग, गृहिण्यस्य मृगतृष्णिका भविष्यद्गृहिणी च मे तद्दुहिता अम्बरमाला नाम ।)

राजा—(स्वगतम्) मन्ये देवी उपहसितुमेनमिच्छति । तत्रोपमा- स्महे । वर्धतां परिहास-लता ।

राजा—यह क्यों ?

विदूषक—आज महारानी जी मेरा विवाद करायेंगी ।

राजा—उसी पुरानी ब्राह्मणी से ।

विदूषक—नहीं, नहीं ।

राजा—फिर वह कौन है ?

विदूषक—वह ओयल्ला से आये हुए मृगाङ्कवर्मा के पुरोहित की कन्या है ।

राजा—पुरोहित का क्या नाम है ?

विदूषक—शशशृंग और उनकी पत्नी मृगतृष्णिका और उसकी कन्या का नाम अम्बर-माला है, जो मेरी गृहिणी होने जा रही है ।

राजा—(अपने मन में) मैं समझता हूँ महारानी जी इनका मजाक करना चाहती हैं, तो मैं चुप रहूँ और यह परिहास की लता बढ़ती रहे ।

(ततः प्रविशति चेटी)

(परिक्रम्य पुरतोऽवलोक्य) कधं एस देवो चाराअणबह्मणेण समं कोदूहलघरस्स तुसारपुञ्जस्स संजवणसण्णिहिदो वट्टदि । ता विण्णवेमि देवीसंदिट्टं । (उपसृत्य) जअदु जअदु भट्टा । देवी विण्णवेदि, चाराअणो मए दुदोआं परिणाइदुमाणत्तो ता तुम्हेहिं चाराअणमित्तकेहिं होदव्वं । एदं च कोदूहलघरं कदं कदलीघरं पविसदु देवो । देवी सपरिअणा इदो ज्जेव वट्टदि । [इति प्रवेशं नाटयति] (कथमेष देवश्चारायणब्राह्मणेन समं कौतूहलगृहस्य तुषारपुञ्जस्य सञ्जवनसन्निहितो वर्तते ! तस्मात् विज्ञापयामि देवी-सन्दिष्टम् । जयतु जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति, चारायणो मया द्वितीयां परिणाययितुम् आज्ञप्तः । तद् युष्माभिश्चारायणमित्रकैर्भवितव्यम् । एतच्च कौतूहलगृहं प्रविशतु देवः । देवी सपरिजना इत एव वर्तते ।)

(ततः प्रविशति देवी कृतवधूटी-वेषश्चेटी विभवतश्च परिवारः) ।

देवी—हला मेहले ! अत्तणो जामादुअस्स कुणसु मुहावलोअणं (हला मेखले ! आत्मनो जामातृकस्य कुरु मुखावलोकनम् ।)

(इसके बाद, दासी रंगमञ्च पर आती है)

(घूमकर सामने की ओर देखकर)

चारायण ब्राह्मण के साथ कौतूहलगृह तुषारपुञ्ज के चतुःशाल के सन्निकट महाराज जी यह कैसे उपस्थित हैं, तो महारानी का सन्देश बता दूँ । स्वामी की जय हो ! महारानी जी कह रही हैं कि मैं चारायण का दूसरा विवाह करने जा रही हूँ, तो आप चारायण के मित्र रूप में अवसर पर उपस्थित रहें और यह कदलीगृह ही कौतूहलगृह बनाया गया है । इसमें महाराज जी चलें, परिजनों समेत महारानी भी पड़ी हैं ।

(इस प्रकार राजा से प्रवेश करने का अभिनय कराती है ।)

(इसके बाद महारानी जी, वधू-वेष में दास एवं सामग्रीसमेत सेवकवृन्द)

देवी—अरे मेखले ! अपने जामाता का मुख देख ।

मेखला—(तथा विधाय शिरसि चाघ्राय) अज्ज चाराअण ! उवरिधेहि रत्तंसुअं कुणसु तारामेलणं ! (आर्य चारायण ! उपरि धेहि रक्तांशुकं कुरु तारामेलनम्)

विदूषकः—(तथा करोति)

देवी—मेहले ! तुरिदं देवावेसु भामरीओ, जेण पज्जलिदे हुदवहे लाअंजलीओ मुंचेदि । (मेखले ! त्वरितं दापय भ्रामर्यः येन प्रज्वलिते हुतवहे लाजाञ्जलिं मुञ्चति ।)

विदूषकः—(तथा कृत्वा) अयि दुदीअवह्मणि धुवं सत्तरिसिमण्डलं च पेक्ख । (अयि द्वितीयब्राह्मणि, ध्रुवं सप्तर्षिमण्डलं च पश्य ।)

चेटः—(विलोक्य) दिट्ठधुओ दिट्ठसत्तरिसिमंडलो अ संवुत्तोम्हि । (दृष्टध्रुवो दृष्टसप्तर्षिमण्डलश्च संवृत्तोऽस्मि ।)

विदूषकः—अयि मुद्धे ? दिट्ठधुआ दिट्ठसत्तरिसिमंडला अहं त्ति भण । (अयि मुग्धे ! दृष्टध्रुवा दृष्टसप्तर्षिमण्डला च अहमिति भण ।)

(चेट-विदूषकौ पुनः पुनस्तथाऽभिदधतः)

चेटः—अज्ज चाराअण ! देवीदासो हमगओ क्खु अहं कहं परिणआमि । ण सुणीअदि दीवंतरे वि एसा वत्ता जं पुरिसो पुरिसं परिणेदि

मेखला—(वैसा कर और सिर सूँघकर) आर्य चारायण ! ऊपर लाल वस्त्र रक्खो । तारा-मेलन (परस्परावलोकन) करो ।

विदूषक—(वैसा करता है)

देवी—मेखले ! भौंरें जल्दी डलवाओ, जिससे वह प्रदीप्त अग्नि में लाजाञ्जलि छोड़े ।

विदूषक—(वैसा करके) अयि मेरी द्वितीय ब्राह्मणि ! ध्रुव और सप्तर्षि-मण्डल को देखो ।

दास—(देखकर) मैं ध्रुव तथा सप्तर्षि-मण्डल को देख चुका ।

विदूषक—अरी भोली ! मैं ध्रुव तथा सप्तर्षिमण्डल देख चुकी—ऐसा कहो ।

(दास और विदूषक बार बार वही अपना अपना वाक्य दोहराते हैं ।)

दास—आर्य चारायण ! मैं महारानी जी का दास हमदक हूँ, कैसे विवाह करूँ । किसी द्वीप में भी ऐसी बात नहीं होती कि पुरुष का पुरुष से अथवा स्त्री का

इत्थिआ वा इत्थिअं। अंबरमाला उण अंबरमाला ज्जेव। (आर्य चारायण देवीदासो डमरुकः खल्वहं कथं परिणयानि। न च द्वीपान्तरेऽपि एषा वार्ता श्रूयते यत् पुरुषः पुरुषं परिणयति स्त्री वा स्त्रियम्। अम्बरमाला पुनरम्बरमालैव)

विदूषकः—आः दासीए सुदे ! पुराणकुट्टिणि ! मगरदाढे ! भमरटेण्टे ! टेण्टाकराले ! कोसवड्ढिणि ! रच्छालोट्टिणि ! त्रुडिदसंघलिदे ! परपुत्त-विद्दाविणि ! विसमकत्तरि ! वञ्चिदह्मि तुए, ता रक्खिअस्स अत्ताणं। (आः दास्याः सुते ! पुराणकुट्टिनि ! मकरदंष्ट्रे ! भ्रमरटेण्टे ! टेण्टाकराले ! कोशवर्धिनि ! रथ्यालुण्ठिनि ! त्रुटितसंघटिते ! परपुत्रविद्रावणि ! विषमकर्त्रि ! वञ्चितोऽस्मि त्वया, तस्माद्रक्षाऽऽत्मानम्।)

[सर्वे हसन्ति]

विदूषकः—(अपक्रामति)

राजा—देवि ! विलक्षः क्रुद्धश्चारायणः कुवलयवीथीं प्रतिगतः। अस्माभिरपि गन्तव्यम्। तत् केनचित् कर्पूरद्वीपादागतेन नरेन्द्रेण सिद्धौषधैर्माधवीलतामण्डपो माञ्जिष्ठस्तबकालङ्कृतः कृतस्तदद्भुतचरं

स्त्री से विवाह होता हो। अम्बरमाला तो अम्बरमाला ही (अम्बरमाला-आकाश कुसुम)

विदूषक—अरी दासी की पुत्री ! पुरानी कुटनी, मगर के-से दाँतों वाली, भ्रमर की तरह इधर-उधर घूमने वाली, झगड़ालू, दूसरों के धन से कोश बढ़ाने वाली, सुरा-पानादि से सड़क पर लोटने वाली, दुश्चरित्रों के साथ रहने वाली, दूसरों के पुत्रों को भ्रष्ट करने वाली, विपरीत कर्म करने वाली ! तुमने मुझे छला है, तो तू अपने को बचा।

(सब हँसते हैं)

विदूषक—(चला जाता है।)

राजा—देवि ! लज्जित चारायण क्रुद्ध हो कुवलयवीथी की तरफ चला गया। हमें भी जाना चाहिए। कर्पूर द्वीप से आये हुए एक वैद्य ने सिद्ध औषधियों से माधवीलता-मण्डल को मजीठ रंग के लाल फूलों के गुच्छों से अलङ्कृत कर दिया

चरितमवलोकयितुं प्रियवयस्यमावर्जयितुं च गच्छामः। त्वं पुनस्तदद्भुतं प्रदोषे द्रक्ष्यसि।

देवी—कुरंगिए! देवतादुदीअस्स अज्जउत्तस्स पासवत्तिणी होहि। (कुरंगिके! देवताद्वितीयस्याऽऽर्यपुत्रस्य पार्श्ववर्तिनी भव।) इति सपरिवारा निष्क्रान्ता।

कुर०—(परिक्रामितकेन) इदो अज्ज चाराअणो मालदीगुम्मन्तरे वन्दी विअ मुहमेत्तणिलुक्को चिट्ठदि। (इत आर्यचारायणो मालतीगुल्मान्तरे वन्दीव मुखमात्रनिर्लोकस्तिष्ठति।)

राजा—तद्वानयैनम्।

कुर०—(किञ्चिदुपसृत्य) भो! अम्बरमालावल्लह देवो वाहरदि [इत्यञ्चले कर्षति] (भो अम्बरमालावल्लभ! देवो व्याहरति।)

विदूषकः—आः दुट्ठदासि। भविस्सकुट्टिणि! तुमं पि मं उअहससि, ता अमुणा तुह्मदेसजणमणकुडिलेण दण्डकट्ठेण सीसं त्ति ताडइस्सं। (आ दुष्टदासि! भविष्यत्कुट्टिनि! त्वमपि मामुपहससि, तस्मादमुना युष्मद्देशजनमनःकुटिलेन दण्डकाष्ठेन शीर्षमिति ताडयिष्यामि।)

है। हम इस अदृष्टपूर्व कर्म का अवलोकन करने तथा प्रियमित्र को रोकने जा रहे हैं और तुम उस अद्भुत काम को सायंकाल के समय देखना।

देवी—कुरङ्गिके! आर्यपुत्र अकेले हैं, तू इनके समीप रह। (ऐसा आदेश देकर परिजनों सहित चली गईं)

कुरङ्गिका—(घूमने का अभिनय कर) मालती कुंज के अन्दर बन्दी की भाँति जिनका मुखमात्र दिखाई पड़ रहा है, आर्य चारायण इधर हैं।

राजा—उनको ले आ।

कुरङ्गिका—(कुछ निकट जाकर)

हे अम्बरमाला के वल्लभ! महाराज बुला रहे हैं।

विदूषक—अरे दुष्ट दासि! कुट्टिनि! तू भी मेरा उपहास करती है। तो तुम्हारे देश के लोगों के मन की भाँति टेढ़े इस डण्डे से तुम्हारे सिर को "दड़" से पटूँगा।

राजा—कुरङ्गिके ! देवीमनुवर्तस्व, तत्परिवारे क्रुद्धश्चारायणः ।

कुर०—(निष्क्रान्ता परिक्रामितकेन)

विदूषकः—पिअवअस्सविणोदत्थं महामन्तिकारिदा रअणवदी णाम पुरदो चउक्किआ । किं उण ताए वि एसा अधिदेवद व्व । (प्रियवयस्यविनोदार्थं महामन्त्रिकारिता रत्नवती नाम पुरतश्चतुष्किका । किं पुनस्तस्यामप्येषाऽधिदेवतेव ।)

राजा—(विलोक्य सगद्गदम्) हृदय ! दिष्ट्या वर्धसे स्वप्नदृष्टजनप्रत्यक्षदर्शनेन । (तं प्रति) सखे चारायण ! सैवेयम् अस्मन्मनःशिखण्डिताण्डवविधात्री वर्षालक्ष्मीः । इदमन्यत्ते कथयामि, पुराणप्रजापतिनिर्माणमेषा । यतः—

> चन्द्रो जडः कदलिकाण्डमकाण्डशीत-
> मिन्दीवराणि च विमूत्रितविभ्रमाणि ।
> येनाक्रियन्त सुतनोः स कथं विधाता
> किं चन्द्रिकां कर्वाचदर्गीतरुचिः प्रसूते ? ॥ ४ ॥

राजा—कुरङ्गिके ! महारानी के पास जा, चारायण उनके परिजनों पर क्रुद्ध हैं ।

कुरङ्गिका—(घूम कर चली गई)

विदूषक—आप के विनोदार्थ महामंत्री के सामने यह रत्नवती नामक चौकी बनवाई गई है, उस पर भी यह अधिदेवता सी है ।

राजा—(देखकर अपने मन में) हृदय ! स्वप्न में देखे हुए जन का प्रत्यक्ष दर्शन कर भाग्य से तुम बढ़ रहे हो । (चारायण से)

यह वही हमारे मन-मयूर को नचाने वाली वर्षा की शोभा है । तुम से यह और कहता हूँ यह किसी पुराने (महानुभवी) ब्रह्मा की रचना है । क्योंकि जिसने चन्द्रमा को जड़, कदली-स्तम्भ को अनुपयुक्त अवसर पर भी शीतल रहने वाला एवं इन्दीवर को विमुद्रित (अकमनन्द) और विभ्रम (चंचलता रहित) बनाया, वह इस सुन्दरी का निर्माता कैसे हो सकता है । क्या कहीं सूर्य चन्द्रिका उत्पन्न कर सकता है ? ॥ ४ ॥

अपि चास्याः खलु लक्षयामि तामिव वयोऽवस्थामलंकुरुते, यस्यां दिवानिशमभिनवाकल्पविकल्पगतमानसा तिष्ठति । तथाहि—

उत्तालालकभञ्जनानि कबरीभारेषु शिक्षारसो
दन्तानां परिकर्मणीयि-महनं भ्रूलास्ययोगग्रहः ।
तिर्यग्लोचनचेष्टितानि वचसां छेकोक्तिसंक्रान्तयः
स्त्रीणां म्लायति शैशवे प्रतिकलं कोऽप्येष केलिक्रमः ॥ ५ ॥

विदूषकः—(आकारमाकलय्य सोपहासम्) भो एहि इदो भवीअ देवीए सआसं गच्छह्मि । (भो एहि इतो भूत्वा देव्याः सकाशं गच्छावः ।)

राजा—सखे ! पश्यामस्तावत् ।

विदूषकः—किं तुमं गण्ठिबधिरो विअ ठाणे थक्कसि ता गुडूचीदंडो व्व भयं इधज्जेव दाड्ढधरो भोदु । अहं उण देवीए सआसं गच्छेह्मि । (किं त्वं ग्रन्थिबधिर इव स्थाने स्खलसि । तस्माद् गुडूचीदण्ड इव भवानिहैव दार्ढ्यधरो भवतु । अहं पुनर्देव्याः सकाशं गच्छामि ।)

और मैं देखता हूँ (कि) इसकी आयु उस अवस्था को अलंकृत कर रही है, जिसमें दिन-रात मन में नये-नये संकल्प-विकल्प उठा करते हैं । जैसे—चञ्चल अलकों को रोकना (चञ्चल अलकों को हाथों से ठीक करते रहना), चोटी गूँथने की कला सीखने में आनन्द पाना, दाँतों को (उचित साधनों से) स्वच्छ और मोहक बनाना, नाची कर चाँचना, भ्रू-नर्तन की रीतियों का ज्ञान प्राप्त करना, तिरछे नेत्रों से हाव-भाव प्रकट करना और अर्थान्तरगर्भित वचन बोलना—ये सब गुण (युवावस्था में) उनमें (स्त्रियों में) स्वभावतः आ जाते हैं । शैशवावस्था बीतते-बीतते स्त्रियों का प्रतिक्षण यह एक अपूर्व केलि-क्रम रहता है ॥ ५ ॥

विदूषक—(आकार [मन के भाव] समझ कर उपहासपूर्वक) आओ, इधर से होकर महारानी के पास चलें ।

राजा—मित्र ! पहले इसे देख तो लें ।

विदूषक—क्या तुम ग्रन्थि-बधिर सा स्थान पर गिरते हो, तो आप गुरिच-दण्ड की तरह यहीं जमे रहो । मैं तो महारानी के पास जाता हूँ ।

राजा—सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ! किं मधु कषायति ?

विदूषकः—(विहस्य पुरोऽवलोक्य च) भो उप्फालसमुप्फालनाइं करेहिं लग्गा। (भो उत्फालसमुत्फालनानि करयोर्लग्नानि।)

राजा—(विहस्य) कन्दुकेन क्रीडति। तथा हि—

अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारुचारिक्रमं,
झणज्झणितिमेखलं स्खलिततारहारच्छदम्।
इदं तरलकङ्कणावलिविशेषवाचालितं,
मनो हरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुकक्रीडितम्॥ ६॥

विदूषकः—एवं एदं (एवमेतत्)

चंचलचलणचण्डचारक्कमचलिदचेलअं
अविरलवेणिवेल्लिदमल्लवल्लधुदविअसिदमल्लिअं।
सोहइ घणरणंतरसणामणिकिंकिणी चअं
चंदमुहीए रअणरंगंगणे गेंदुअकेलिलांडवं॥ ७॥

(चञ्चलचरणचण्डचारक्रमचलितचेलकं
अविरलवेणिवेल्लितमल्लवल्लधुतविकसितमल्लिकम्।
शोभते घनरणद्रशनामणिकिङ्किणीचयं
चन्द्रमुख्या रत्नरङ्गाङ्गणे कन्दुककेलिताण्डवम्॥ ७॥)

राजा—तुम्हारे लिए सब कुछ सम्भव है। क्या मधु तुम्हें कसैला लगता है ?

विदूषक—(हँसकर और सामने देखकर) अरे! हाथों का उछाल-कूद हो रहा है।

राजा—(हँसकर) गेंद खेल रही है। जैसे—

हे सुभ्रु! मणिमय नूपुरों की अमन्द ध्वनि से पैरों की गति सुन्दर लग रही है, करधनी की क्षुद्र घण्टिकाओं से झन झन ध्वनि निकल रही है, कण्ठ प्रदेश में मुक्ताहार लटका हुआ हिल रहा है एवं चंचल कंकणों से विशेष ध्वनि निकल रही है, इस प्रकार की तुम्हारी कन्दुकक्रीडा मन को हर लेती है॥ ६॥

विदूषक—(ऐसा ही है)

चञ्चल चरणों को तेजी से आगे रखने से वस्त्र चञ्चल हो रहे हैं, वेणी के बारबार लटकने एवं हिलते रहने से उसमें गुँथे मल्लिका के पुष्प नीचे गिर रहे हैं एवं करधनी की किङ्किणी अत्यन्त शब्द कर रही है। रत्न-जटित रंगभूमि के प्रांगणमें चन्द्रमुखी की इस प्रकार की कन्दुक-क्रीडा अत्यन्त सुन्दर लग रही है॥ ७॥

राजा—

अस्याः स्वेदाम्बुबिन्दुच्युततिलकतया व्यक्तवक्त्रेन्दुकान्ते-
र्वारंवारेण वेगग्रहणनटनाकेलिवाचालितायाः।
तत्पातोत्पाततानोन्नतविनतदृशस्ताडनोच्चाललीला-
लालित्याच्छन्दिताः स्मः प्रतिपदमधुना कन्दुकक्रीडितेन ॥ ८॥

(भूयो विभाव्य) अहह ! महता वेगेन वर्तते। तथा हि—
चेलाञ्चलेन चलहारलताप्रकाण्डैर्वेणीगुणेन च चलाद्वलयीकृतेन
हेलाहितभ्रमरकभ्रमिमण्डलीभिश्चक्रत्रयं रचयतीव चिरं नतभ्रूः ॥९॥

(पुनर्निरूप्य)

स्मरशरधिनिकाशं कर्णपाशं कृशाङ्गी
रयविगलिततालीपत्रताटङ्कमेकम्।
वहति हृदयचोरं कुङ्कुमन्यासगौरं
वलयितमिव नालं लोचनेन्दीवरस्य ॥ १० ॥

राजा—पसीने की बूँदों से मस्तक का तिलक धुल जाने से स्पष्ट मुखचन्द्र-कान्ति वाली, बारबार वेग से गेंद मारने की नृत्यकेलि में स्फूर्तियुक्त एवं गेंद के नीचे गिरने और ऊपर उठने के तान के अनुसार नीचे ऊपर जाते हुए नेत्रों वाली इस सुन्दरी के गेंद मारने और उछालने की ललित लीला के कारण इस कन्दुकक्रीडा से इस समय पग-पग पर हम हर्षित हो रहे हैं॥ ८ ॥

(पुनः सोचकर) अहह ! बड़े वेग से गेंद खेल रही है।

वस्त्राञ्चल, चञ्चल्हार की उत्कृष्ट लड़ियों एवं वलपूर्वक वेष्टित वेणीसूत्र से कुम्हार के चाक को विरस्कृत करने वाले गोलाकार चक्कर काटने से वह झुकी भौंहवाली सुन्दरी तीन वृत्त सा बनाती है ॥ ९ ॥

(पुनः सम्यक् अवलोकन कर)

कामदेव के तरकस के सदृश, वेग के कारण ढीले-ढाले, ताटङ्क से विनिर्मित कर्णभूषण वाला, कुङ्कुम लगाने से गौर तथा नेत्र-कमल का लपेटा हुआ नाल सा, इस दुबले-पतले शरीर वाली सुन्दरी का अनुपम कर्णपाश हृदय को चुरा लेता है ॥ १० ॥

विदूषकः—भोः, विरदा गेंदुअखेलणादो (भोः, विरता कन्दुकक्रीडनात् ।)

राजा—न केवलं विरता सखी, किंतु करतलन्यस्तपाणिपद्मा सप्रत्यभिज्ञमिवास्मानवलोकयति च । पश्य—

वक्त्रश्रीजितलज्जितेन्दुवदिदं कृत्वा करे कन्दुकं
 क्रीडाकौतुकमिश्रभावमनया न्यस्तं वहन्त्याननम् ।
भृङ्गाग्रामहठक्रमकेतकदलस्पर्धावतीनां दृशां
 दीर्घापाङ्गनिरीक्षणैकसुहृदामेषोऽस्मि पात्रीकृतः ॥ ११ ॥

विदूषकः—भो एहि अणुसरह्म सुंदरीं । भोदु पेम्मसुहली । पीजदु दिट्ठीए पीऊसगंडूसो । दिज्जदु मअणस्स हत्थावलंबो, पअट्टदु पंचमहुंकाराहिचारो । भोदु विकटदुब्भरो परिवारवग्गो । अच्चिज्जदु मअरध्वजसंधिविग्गहचिन्तावाउलदाए कंठट्ठिदजीविदो चाराअणब्रह्मणो । (भो एहि अनुसराव: सुन्दरीम् । भवतु प्रेमसाफल्यम् । पीयतां दृष्ट्या पीयूषगण्डूषम् । दीयतां मदनस्य हस्तावलम्बः, प्रवर्ततां पञ्चमहुङ्कारामिचारः । भवतु विकटदुर्भरः परिवारवर्गः । अर्च्यतां मकरध्वजसन्धिविग्रहचिन्ताव्याकुलतया कण्ठस्थितजीवितश्चारायणब्राह्मणः ।)

विदूषक अरे ! गेंद खेलना बन्द कर दिया ।

राजा—केवल खेलना ही नहीं बन्द कर दिया, किन्तु हथेली पर हथेली रख प्रत्यभिज्ञा (स्मृति की सहायता से उत्पन्न ज्ञान) पूर्वक हमें देख भी रही है । देखो—

मुख की शोभा से पराजित अतएव लज्जित चन्द्रमा के समान (अपने) कन्दुक को हाथपर रख, क्रीडा और कौतूहल के मिश्रित भाव वाले मुख को तिरछा-टेढ़ा किये इस सुन्दरी ने, भौंरों को बलात् आकृष्ट करने वाले केतकपत्र से स्पर्धा करने वाले तथा कनखियों से देखने में अत्यन्त निपुण अपने नेत्रों का हमें पात्र बनाया ॥ ११ ॥

विदूषक—आवो । सुन्दरी का अनुसरण करें । प्रेम सफल हो । दृष्टि से अमृत रस पियो । कामदेव को हाथ का सहारा दो । कोयल की पुकार शुरू होने दो । आश्रितजन अत्यन्त दुर्भर हों काम-सम्बन्धी सन्धि-विग्रह की चिन्ता से व्याकुल होने के कारण कण्ठगत प्राण चारायण ब्राह्मण की अर्चना करो ।

(परिक्रम्य सोपानावतरणं नाट्यतः)

विदूषकः—अदेवं देवउलं, अणक्खरो लेहो, जदो ण दीसदि सा। (अदेवं देवकुलं, अनक्षरो लेखः, यतो न दृश्यते सा।)

राजा—दृष्टा हरिश्चन्द्रपुरीव नष्टा च।

विदूषकः—एहि णिउणं णिरूपह्म। सा कहिं पि अभ्यंतरिदा चिट्ठदि। (चतुर्दिशमवलोकितनाट्यिकेन)

राजा—(सविषादं भुवमवलोक्य)

इयं चरणकुङ्कुमच्छुरितकुट्टिमा मेदिनी
निवेदयति कन्दुकव्यतिकरं कुरङ्गीदृशः।
अहो किमिदमद्भुतं न च कृशोदरी दृश्यते
भवत्ववगतं स्मरः सृजति मोहमायामिमि माम् ॥१२॥

(सन्तोषमभिनीय समन्तादवलोक्य च)

शिखामणिरितोऽरुणस्तिलकयत्ययं मेदिनी-
मितो गलितगुम्फ[illegible]लवेणिवान्ताः स्रजः।

(दोनों घूमकर सीढ़ियों से उतरने का अभिनय करते हैं)

विदूषक—देवकुल बिना देव का, लेख बिना अक्षर का जो वह दिखाई नहीं पड़ती है।

राजा—हरिश्चन्द्र की पुरी की तरह दिखाई दी और गायब हो गई।

विदूषक—(चारों तरफ देखने का अभिनय करता है)

राजा—(विषादसहित भूमि की ओर देखकर)

मृगनयनी के चरणों के कुङ्कुम से लिप्त फर्शवाली यह भूमि उसके कन्दुक-व्यसन को सूचित कर रही है, किन्तु कैसा आश्चर्य है वह कृशोदरी दिखाई नहीं पड़ रही है। अच्छा, जान गया, कामदेव यह मोह माया किया करता है ॥ १२ ॥

(सन्तोष का अभिनय कर और चारों ओर देखकर)

उसकी लाल चूड़ामणि इधर गिरी हुई है, जो पृथ्वी को अलङ्कृत कर रही है। बन्धन के शिथिल हो जाने के कारण चञ्चल वेणी से छूट कर माला

> दृतरुद्धुरितमन्तरा त्रुटितहारमुक्ताफलै-
> रितः श्रवणपाशतस्तलजपत्रमास्ते च्युतम् ॥

विदूषकः—सुद्दं क्खु सण्णिवेस-सिलिट्टं तालवत्तं। (सुन्दं खलु सन्निवेश-श्लिष्टं तालपत्रम्।) [आदाय प्रदर्शं च] कधं अक्खराइं ? अंहो पिअवअस्स जइ कालक्खरिओसि ता पढ। (कथमक्षराणि ? अहो प्रियवयस्य, यतः कालाक्षरिकोऽसि तस्मात् पठ।)

राजा—(वाचयति)

> विधत्ते सोल्लेखं कतरदिह नाङ्गं तरुणिमा
> तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे।

(विभाव्य) अये, द्विपदीयं न पुनरत्रापि चतुष्पदी।

विदूषकः—भोः गंडआ विअ उद्धजाणुओ केच्चिरं चिट्ठिस्सामो। ता एहि मत्तवारणोवरि उवविसह्म। (भो गण्डकाविवोद्र्ध्वजानुकौ कियच्चिरं स्थास्यावः। तस्मादेहि मत्तवारणोपरि उपविशावः।) तथा कुरुतः।

इधर गिरी है। निकटस्थ भूभाग टूटे हार के मोतियों से व्याप्त है। इधर कर्णपाश से तालीपत्र गिरा हुआ है॥ २१॥

विदूषक—सन्निवेश में श्लिष्ट तालपत्र है। (लेकर और दिखाकर) अरे इसमें तो अक्षर लिखे हैं। प्रियमित्र, तुम विद्वान हो, पढ़ो।

राजा—(बाँचता है)

वैसे तो यौवन किस अङ्ग को सुन्दर नहीं कर देता अर्थात् सभी अङ्गों में निखार पैदा कर देता है, किन्तु नेत्रों में एक विशेष प्रगल्भता (चंचलता) उत्पन्न कर देता है।

(सोचकर) अरे इसमें दो ही पद नहीं, चार पद हैं।

विदूषक—अरे गेंडे की तरह उँकड़ (घुटने के बल) कब तक बैठे रहेंगे। आओ मत्तवारण (अटारी) के ऊपर बैठें। (दोनों वैसा करते हैं)

(नेपथ्ये)

यत्तालीदलपाकपाण्डुवदनं यद् दुर्दिनं नेत्रयो-
यत्प्रेङ्खोलितकेलिपङ्कजदलं श्वासाः प्रसर्पन्ति च।
गौरी कुप्यतु वर्तते यदि न ते वत् कोऽपि चित्ते युवा
धिग् धिक् त्वां सह पांसुखेलनसखी लोकेऽपि यन्निह्नवः ॥१४॥

विदूषकः—(चमत्कृत्य) भोः सिहाबंधं मे करेहि, अमाणुसी वाणी सुणीअदि। (भोः शिखाबन्धं मे कुरु, अमानुषी वाणी श्रूयते।)

राजा—भित्त्यन्तरितः कश्चिदभिधत्ते।

विदूषकः—तदो वक्खाणेहि मे। (तस्माद् व्याख्याहि मे।)

राजा—काचित् क्वचिदनुरक्ता लज्जावती च वयस्यया भिन्नरहस्या क्रियते। नेपथ्ये—(सवाक्स्तम्भम्) सहीओ! किं एत्थ अलिअं संभावेध? (सख्यः किमत्र अलीकं सम्भावयथ?)

(नेपथ्य में)

तुम्हारा मुख पके तालीपत्र की भाँति जो पीला हो गया है, नेत्रों से आँसुओं की जो झड़ी लगी रहती है, साँसें लम्बी चल रही हैं, हाथ में लिए हुए क्रीडा-कमल की पँखुड़ियाँ वेग से हिल रही हैं, तो अवश्य तुम्हारे मन में कोई युवक बसा हुआ है। यदि ऐसा न हो तो पार्वती जी का कोप मुझ पर हो। धूल में साथ साथ खेलने वाली बचपन की सखियों से भी तुम जो दुराव छिपाव रखती हो—तुम्हें धिक्कार है ॥ १४ ॥

विदूषक—(चौंककर) अरे मेरी शिखा बाँधो। कोई दैवी वाणी सुनाई पड़ती है।

राजा—दीवाल की आड़ से कोई बोल रहा है।

विदूषक—मुझसे समझाकर कहो।

राजा—कोई (स्त्री) किसी पुरुष में अनुरक्त किन्तु लज्जावती है, अतः उनकी सखी उससे रहस्य प्रकट कराने के लिए प्रयत्न कर रही है।

(नेपथ्य में)—(स्तब्ध वाणी में)

सखियो! क्यों तुम लोग मिथ्या कल्पना करती हो!

राजा—वयस्य श्रुतम् ।

विदूषकः—ही हो भोः, एदे क्खु पंडिदा अलिअविअप्पेहिं फललुद्धा विअ मक्कडामूलमलहंता पल्लवग्गाहिणो होन्ति, मुक्खा उण फणसवणपालआ विअ मूलमण्णेसंता फलं पावइ, ता सुणादु, अहं ज्जेव्व वक्खाणइस्सं । ण क्खु एदं सामण्णजणवअणं, किं तु तुमं ज्जेव्व उवालम्भीअसि । ण क्खु मिअलंछणमुज्झीय अण्णेण ससिकंतपुत्तलिआ चद्धणिज्झरा पज्झरइ । (ही ही भोः, एते खलु पण्डिता अलीकविकल्पैः फललुब्धा इव मर्कटा मूलमलभमानाः पल्लवग्राहिणो भवन्ति, मूर्खः पुनः पनसवनपालक इव मूलमन्विष्यन् फलं प्राप्नोति । तस्माच्छृणोतु, अहमेव व्याख्यास्यामि । न खल्वेतत् सामान्यजनवचनं किन्तु त्वमेवोपालभ्यसे । न खलु मृगलाञ्छनम् उज्झित्वाऽन्येन शशिकान्तपुत्रिका बद्धनिर्झरा प्रक्ष्यति ।)

राजा—तदिदं तर्कं, अनाकरे पद्मरागरत्नम् ।

(पुनर्नेपथ्ये)

कह दे तक्खणं फुडिदसिप्पिसंपुडमुक्कमोत्तिअच्छाआ ।
थक्कं तु सुमुहि अणंजणाणं णअणाणं वाहकणा ॥१५॥
(कथं ते तत्क्षणंस्फुटितशुक्तिसंपुटमुक्तमौक्तिकच्छाया ।
स्तोकीक्रियतां सुमुखि अनंजनयोर्नयनयोर्बाष्पकणाः ॥१५॥)

राजा—मित्र ! तुमने सुना ।

विदूषक—ही हो अरे ये पंडित लोग मिथ्या विकल्पों से फललुब्ध बन्दरों की भाँति मूल न प्राप्त कर पल्लव ग्रहण करते हैं और मूर्ख कटहल के बगीचे के माली की तरह मूल का अन्वेषण करता फल प्राप्त करता है । तो सुनो ! मैं ही व्याख्या करूँगा । यह सामान्यजन के लिए नहीं कहा गया है किन्तु तुम्हारी ही शिकायत की जा रही है । चन्द्रकान्त का पुतली चन्द्रमा के अतिरिक्त दूसरे से जल-प्रस्राव करती नहीं प्रसन्न होती ।

राजा—तो मैं यह समझता हूँ कि बिना खान के लाल रत्न निकला ।

(पुनः नेपथ्य में)

तत् काल सीपी के खुले सम्पुट से निकले मोतियों के समान तुम्हारे अश्रु बिन्दु क्यों (गिर रहे हैं) ? हे सुन्दरि ! इन्हें बन्द करो ॥ १५ ॥

सच्चिक्कसिहि कहं क्खु पसरन्तपारदरसच्छित्तकंचणच्छाअं ।
तणु कदलीए परिपंडुरत्तणं डिंभहरिणच्छि ॥१६॥
(स्निह्यते कथं खलु प्रसरत्पारदरससिक्तकाञ्चनच्छायम् ।
तनु कदल्याः परिपाण्डुरत्वं डिम्भहरिणाक्षि ॥१६॥
कहं णु तुए तरलिज्जंति केलिपंकेरुहग्गक्खलणेण ।
णीसासा हिअहारलट्ठिसंठाणपरिमाणा ॥ १७ ॥
(कथन्नु त्वया शायन्ते केलिपङ्केरुहाग्रस्खलनेन ।
निश्वासाः स्थितहारयष्टिसंस्थानपरिमाणाः ॥ १७ ॥)
णिविडकण्टइदकंचुअत्तणं फुरइ पुणो देहदोब्बल्लं ।
वदणं पुण हरिणंकविंबदीणं कहं णु होइ ॥ १८ ॥
(निबिडकण्टकितकञ्चुकत्वं स्फुरति पुनर्देहदौर्बल्यम् ।
वदनं पुनर्हरिणाङ्कबिम्बदीनं कथं नु भवति ॥ १८ ॥)
अइ तुह विज्जाहरमल्लदेवदंसणेण फुडमागदा भंगीओ ।
ण विणा चंदं सेहालिआए विअसंति कुसुमाइं ॥ १९ ॥
(अयि तव विद्याधरमल्ल देव दर्शनेन स्फुटमागता भङ्गयः ।
न विना चन्द्रं शेफालिकाया विकसन्ति कुसुमानि ॥ १९ ॥)

विदूषकः—सिविणअदिट्ठा हिंदोलियाचित्तसंचारिदासालभंजिअत्तणेण परिणदा गेंदुअखेल्लिणी कव्वबंधअणा सच्चं ज्जेव एसा तुए अक्खिदा

हे मृगशावकनयने ! पारा के रस से सिक्त सुवर्ण की सी छिटकती कान्ति वाले शरीर को कदली की पीतिमा क्यों छिपा रही ? ॥ १६ ॥

तुम्हारे निःश्वास (कर में स्थित) क्रीडाकमलके अग्रभाग पर से होते हुए हार की लड़ियों तक पहुँच रहे हैं—इतने दीर्घ निःश्वासों का तुम्हें अनुभव क्यों नहीं हो रहा है ? ॥ १७ ॥

तुम्हारे कन्चुक पुलकों से कण्टकित हैं एवं तुम्हारे शरीर के दौर्बल्य का प्रस्फुटन हो रहा है। तुम्हारा मुख चन्द्र-बिम्ब सा दीन क्यों हो रहा है ॥ १८ ॥

विद्याधरमल्ल देव के दर्शन से तुम्हारे सभी बहाने—तुम्हारी चालें स्पष्ट व्यक्त हो गईं। चन्द्रमा के बिना शेफाली के पुष्प नहीं खिलते ॥ १९ ॥

विदूषक—स्वप्न में दिखाई दी, झूले के चित्र में मिली, शालभंजिका के रूप में परिणत हुई, गेंद खेलने लगी, काव्य रचना करने लगी, सचमुच तुमने

तुह चित्तं अक्खीवदि। (स्वप्नदृष्ट्या हिन्दोलिकाचित्रसंचारितायालभञ्जिकात्वेन परिणता कन्दुकखेलिनी काव्यबन्धवचना सत्येव एषा त्वया आक्षिप्ता तव चित्तमाक्षिपति।)

(नेपथ्ये) सहि मिअंकावलि! संपदं मए णिसग्गसत्यए दूदीए होदव्वं।
(सखि मृगाङ्कावलि! साम्प्रतं मया निसर्गसख्या दूत्या भवितव्यम्।)

राजा—सैवेयमसमन्मनसि मन्मथेनेदानीमुत्कीर्यते मृगाङ्कावलीति पञ्चाक्षरी।

(नेपथ्ये) रइदा मए तुहावत्थाणिवेदणत्थं महाराअस्स पुरदो पढ्णिज्जा दुवे सिलोआ, ते पिअसही सुणीअदु। (रचितौ मया तवावस्था निवेदनार्थं महाराजस्य पुरतः पठनीयौ द्वौ श्लोकौ, तौ प्रियसखी शृणोतु।)

(संस्कृतमाश्रित्य)

चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिखितं यन्मार्ष्टि दष्टाधरा
कामः पुष्पशरः किलेति सुमनोवर्गं लुनीते च यत्।
वन्द्यं निन्दति यच्च मन्मथममी भङ्क्त्वाऽग्रहस्ताङ्गुली
स्तत् कामं सुभग! त्वया वरतनुर्वातूलता लम्भिता॥ २०॥

इसे आकृष्ट किया है और यह तुम्हारे चित्त को आकृष्ट कर रही है। (नेपथ्य में) सखि मृगाङ्कावलि! अब मैं तुम्हारी स्वाभाविक सखी दूती हूँगी।

राजा—'मृगाङ्कावली' के वही पाँच अक्षर मेरे मन में खोद खोद कर अङ्कित कर रहा है।

(नेपथ्य में) तुम्हारी अवस्था बताने के निमित्त महाराज के सामने पढ़े जाने योग्य मैंने दो श्लोकों की रचना की है, उन्हें प्रिय सखी सुनो।

(संस्कृत में)

(चन्द्रमा उसे ताप देता है, अतः बदला लेने के लिए आकाशस्थ साक्षात् चन्द्रमा को न पकड़ सकने के कारण) चन्दन के रस से चन्द्रमा की आकृति बनाकर दाँतों से अधरोष्ठ काटती (क्रुद्ध हो) उसे विनष्ट करती है। पुष्प कामदेव के बाण हैं, अतः सभी प्रकार के पुष्पों को तोड़कर विनष्ट करती है। अँगुलियाँ फोड़ फोड़कर वन्दनीय कामदेव को बुरा-भला (गाली) सुनाती है। हे सुभग! तुमने अपनी इच्छाभर उस सुन्दरी को उन्मादावस्था की इस सीमा तक प्राप्त करा दिया है॥ २०॥

अपि च।

तापोऽम्भः प्रसृतिम्पचः प्रचयवान् बाष्पः प्रणालोचितः
श्वासाः प्रेङ्खितहारयष्टिलतिकाः पाण्डिम्नि मग्नं वपुः।
किं वाऽन्यत् कथयामि रात्रिमखिलां त्वन्मार्गवातायने
हस्तच्छत्रनिवारितेन्दुमहसस्तस्याः स्थितिर्वर्तते ॥ २१ ॥

विदूषकः—अहं उण जाणे अणुप्पविसीअ चलिदुम्। अहो, इह सुण्ण-चउक्किआसण्णा केवि बह्मरक्खसा जप्पंति। भूअपिसाचावासट्ठाना संझा सण्णिहिदा वट्टदि, ता एहि गच्छह्म। (अहं पुनर्जाने अनुप्रविश्य चलितुम्। अहो, इह शून्यचतुष्किकासन्नाः केऽपि ब्रह्मराक्षसा जल्पन्ति। भूत-पिशाचावासस्थाना सन्ध्या सन्निहिता वर्तते। तस्मादेहि गच्छावः।)

राजा—यथाह भवान् (इति उभाववतरणं नाटयतः)

(नेपथ्ये)—सुखाय सायन्तनी सन्ध्या भवतु देवस्य। सम्प्रति हि—

निर्यद्वासरजीवपिण्डकरणं बिभ्रन् कवोष्णान् करान्
माञ्जिष्ठं रविबिम्बमम्बरतलादस्ताचलं चुम्बति।

और भी

उसके शरीर का ताप समुद्र को भी तप्त कर रहा है। नेत्रों से आँसू उमड़कर नाले की भाँति प्रवाहित होता है। उसके दीर्घश्वास हार की लड़ियों को दोलित करते हैं। शरीर अत्यन्त पीला पड़ गया है। अथवा और क्या कहूँ, हाथ के छत्र से ही चन्द्रमा की किरणों को बचाती हुई (दर्शनार्थ) तुम्हारे मार्ग के समीप झरोखे से लगी सारी रात बैठी रहती है ॥ २१ ॥

विदूषक—मैं समझता हूँ कि अब दरवाजे से प्रवेश कर चला जाय। यहाँ निर्जन चौकी के पास कुछ ब्रह्मराक्षस बोल रहे हैं। सन्ध्या, जो भूत-पिशाचों का आवास स्थान है, सन्निकट है। तो आओ चलें।

राजा—जैसा आप का कहना—(ऐसा ही हो) [दोनों उतरने का अभिनय करते हैं]

(नेपथ्य में) सायंकालिन सन्ध्या महाराज के लिए सुखकर हो। इस समय जाते हुए दिनरूपी जीव का पिण्डभूत एवं कुछ कुछ गर्म किरणों को धारण करता मजीठ रंग का लाल सूर्यमण्डल आकाशतल से अस्ताचल को प्राप्त हो

किञ्च स्तोकतमःकलापकलनाश्यामायमानं मनाग्
धूमश्यामपुराणचित्ररचनारूपं जगज्जायते ॥ २२ ॥

अपि च

सैरन्ध्रीकरकृष्टकङ्कणसरत्ताराध्वनिः सञ्चरद्
दूतीसूचितसन्धिविग्रहविधिः सोल्लासलीलाचयः ।
वारस्त्रीगणसज्जयमानशयनः सन्नद्धपुष्पायुधः
श्रीखण्डद्रवधौतसौधतलको रम्यः क्षणो वर्तते ॥ २३ ॥

राजा—सन्ध्यामुपासितुं देवीभवनमेव गच्छावः ।

(इति निष्क्रान्तौ ।)

इति विद्धशालभञ्जिकायां द्वितीयोऽङ्कः

रहा है। कुछ कुछ अन्धकार आ जाने से थोड़ा थोड़ा श्यामायमान जगत धूम से काले पड़ गए पुराने चित्र सा प्रतीत हो रहा है ॥ २२ ॥

और भी

(कहीं अभिसार के निमित्त) दासी द्वारा (लज्जावती नायिका का) हाथ पकड़ कर खींचने से कङ्कण की ऊँची ध्वनि हो रही है। (कहीं) दूती (नायिका को) सन्धि-विग्रह की विधि बता रही है। (कहीं प्रेमी और प्रेयसी का) उल्लास-पूर्वक क्रीडा, केलि एवं विलास का क्रम चल रहा है। वेश्यायें अपनी अपनी सेज बिछा रही हैं, कामदेव (धनुष-बाण सहित) तैयार हो रहा है एवं महलों की सतह श्वेत चन्दन के रस से धो दी गई है। इस प्रकार यह सन्ध्या का समय रमणीय हो रहा है ॥ २३ ॥

राजा—सन्ध्योपासन के निमित्त महारानी के भवन में चलें। (ऐसा कहकर रंगमञ्च से चले गए।)

द्वितीय अङ्क की 'कला' हिन्दी व्याख्या समाप्त।

★

अथ तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चेटी)

चेटी—(परिक्रम्य) को चिअ कालो वट्टदि पिअसहीए विअक्खणाए दिट्ठाए। उक्कण्ठाभरेण असहसीअरकरंविअं विअ करिदंतमुसलं फुट्टणभुट्टं वट्टदि मे हिअअं। ता कहि णु क्खु तां दक्खिस्सं ? (पुरोऽवलोक्य) कधं एसा पिअसही किंपि चिंतअन्ती इदो एव्व आअच्छदि। (क इव कालो वर्तते प्रियसख्या विचक्षणाया दृष्टायाः। उत्कण्ठाभरेण असहशीकरकरंवितमिव करिदन्तमुसलं स्फुटन भूमिष्टं वर्तते मे हृदयम्। तस्मात् क्व नु खलु तां द्रक्ष्यामि ! कथमेषा प्रियसखी किमपि चिन्तयन्ती इत एव आगच्छति !)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा द्वितीया चेटी)

द्वि० चेटी—(स्वगतम्) अहो मंतिणो पहुकज्जे णिरदिसआ भत्ती। (अहो मन्त्रिणः प्रभुकार्ये निरतिशया भक्तिः।)

प्रथमा—कधं महाभाअधेअजणकज्जसिद्धी विअ चिंतिदोवणदा पिअसही। (स्वगतम्) ता पच्छा भविअ णअणाइं से पीडिस्सं। (कथं महाभागधेयजन कार्यसिद्धिरिव चिन्तितोपनता प्रियसखी ! तत्पश्चात् भूत्वा नयने अस्याः पीडयिष्यामि।)

(इसके अनन्तर दासी रंगमञ्च पर आती है)

दास (घूमकर) प्रियसखी विचक्षणा का दर्शन पाये बहुत समय हो गया। अत्यन्त उत्कण्ठा से मेरा हृदय फटा सा जा रहा है। तो देखूँ कहाँ उसका दर्शन होगा ! अरे ! कैसे यह प्रियसखी कुछ सोचती इधर ही आ रही है !

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट दूसरी दासी रंगमञ्च पर आती है)

दूसरी दासी—(अपने मन में) अहो ! स्वामी के कार्य में मन्त्री की कितनी अधिक भक्ति है।

पहली—(मन में) महान् व्यक्ति की कार्यसिद्धि की भाँति चिन्तन करते ही कैसे प्रियसखी आ गई ! तो इसके पीछे जाकर इसके नेत्रों को (हथेलियों से) आच्छादित करूँ।

द्वितीया—पिअसहीए सुलक्खणाए करप्फंसो। (प्रियसख्याः सुलक्षणायाः करस्पर्शः।) [प्रकाशम्] सहि सुलक्खणे! जाणिदासि ता मुंच णअणाइं। (सखि सुलक्षणे! ज्ञातासि, तन्मुञ्च नयने।)

सुलक्षणा—(नयने परित्यज्य सप्रणयकोपम्) हला विअक्खणे! एत्तहमेत्ते वि सलिलसित्तक्षणगुणगंठिगादे वि सिणेहे कधं उब्भिण्णसिहाखंजरीटपक्खिणी विअ अदंसणा वट्टसि? ता एसा दे कुप्पामि। (हला विचक्षणे, एतावन्मात्रेऽपि सलिलसिक्तशणगुणग्रंथि गाटेऽपि कथमुद्भिन्नशिखा खञ्जरीटपक्षिणीव अदर्शना वर्तसे। तस्मादेषा ते कुप्यामि।)

विचक्षणा—(सप्रश्रयम्)—सहि सुलक्खणे! मा कुप्प, महामंतिभागुराअणणिओओ एत्थ अवरज्झदि ण उण अहं। (सखि सुलक्षणे मा कुप्य! महामन्त्रिभागुरायणनियोगोऽत्र अपराध्यति न पुनरहम्।)

सुलक्षणा—(सोपहासम्) को तुह्माहिंतो अण्णो छगुणअविसयेवट्टइ? (को युष्मत्तोऽन्यः षाड्गुण्यविषये विद्यते?)

विच०—अह्मारिसजणजोग्गं महिला छगुण्णदंसणत्तणं क्खु एदं। (अस्मादृशजनयोग्यं महिलाषाड्गुण्यदर्शनत्वं खल्वेतत्।)

दूसरी—प्रिय सखी सुलक्षणा के हाथ का स्पर्श है। (जोर से) सखि सुलक्षणे! मैंने तुम्हें जान लिया, तो मेरे नेत्रों को छोड़ दो (आँख पर से हथेली को हटा लो)

सुलक्षणा—अरी विचक्षणे! जल से भीगी सन की रस्सी की गाँठ की भाँति इतनी अधिक घनिष्ठता होने पर भी उद्भिन्न शिखा (जिसके सिर पर कँलगी उत्पन्न हो गई हो) खंजन पक्षी की तरह दिखाई नहीं पड़ती हो। (अतएव) मैं तुमसे अप्रसन्न हूँ।

विचक्षणा—(नम्रतापूर्वक) सखि सुलक्षणे! क्रोध न करो। इसमें महामन्त्री भागुरायण के आदेश का अपराध है, मेरा नहीं।

सुलक्षणा—(हँसी के साथ) राजनीति के छः गुणों में तुम्हारे सिवा और कौन है?

विचक्षणा—वस्तुतः हम ऐसे लोगों को महिलाओं के छः गुण जानना चाहिए।

मुल०—महिला छगुण्णएण जइ महिलाअणस्स अदंसणं ता अह्मा-रिसीओ कीति दीसन्ति। (महिलापाड्गुण्येन यदि महिलाजनस्यादर्शनं तद् अस्मादृश्यः किमिति दृश्यन्ते।)

विच०—कह कीदिसं दे महिला छगुण्णअं ? (कथय कीदृशन्ते महिला पाड्गुण्यम्।)

मुल०—तुमं भण दाव उग अहं भणिस्सं, प्पठमं सहआरमंजरी सव्भिज्जइ पच्छातु कलकण्ठीमुद्दं सिढिलेदि। (त्वं भण तावत् पुनरहं भणिष्यामि प्रथमं सहकारमञ्जरी उद्भिद्यते, पश्चात्तु कलकण्ठी मुद्रां शिथिलयति।)

विच०—ता सुणु, अहमेअदा भअवदा भागुराअणेग सबहुमाणं भणिदा, विअक्खणे अह्माणं राअरहस्से तुए साहज्जं कादव्वंति। (तस्मात् शृणु! अहमेकदा भगवता भागुरायणेन सबहुमानं भणिता, विचक्षणे! अस्माकं राज-रहस्ये त्वया साहाय्यं कर्त्तव्यमिति।)

मुल०—अहो दे मदिविहवो जं दाणि मंतिणा वि एवं संभावीअसि। अहवा का वण्णणा बकुलावलीगंधभारुग्गोरत्ति। तदो तदो। (अहो ते मतिविभवः यदिदानीं मन्त्रिणाऽप्येवं संभाव्यसे। अथवा का वर्णना बकुलावली-गन्धभारोद्गारेति। ततस्ततः।)

मुलक्षणा—यदि महिला होकर महिलाओं के छः गुण न जाना तो हम क्योंकर देखी जाँय (आवश्यक समझी जाँय)

विच०—बताओ, तुममें महिलाओं के षड्गुन किस प्रकार के हैं!

मुल०—पहले तुम कहो, फिर मैं कहूँगी। पहले आमों में मञ्जरी निकलती है, तदनन्तर कोयल अपना मौन तोड़ती है—बोलती है।

विच०—तो सुनो! एक दिन श्रीमान् भागुरायण ने अत्यन्त आदरपूर्वक मुझसे कहा—विचक्षणे! राजा के एक गोपनीय कार्य में तुझे मेरी सहायता करनी है।

मुल०—अहो! तुम्हारा कैसा बुद्धिवैभव है कि आजकल मन्त्री से भी तुम इतना सम्मान पाती हो। अथवा बकुलावली (मौलसिरी वृक्ष) अतिशय गन्ध बिखेर रही है—ऐसी प्रशंसा करना निरर्थक है (क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष ही है। हाँ इसके बाद क्या हुआ!

विच०—विणओवणदाए मए तधेत्ति पडिवण्णं। कधिदं अ मे तेण, जधा, एसो जो मिअंकवम्मा सा मिअंकावली तं परिणीअ सिरि-उवरायेण चक्कवत्तिणा होदव्वं, ता तुए ननु कदाचिद् भवणभित्तिसंचारे वासघरे एसा वासिदव्वा, जेण देवस्स सिविणआयगमो होदि कज्जं तराइं देहरदासो कधइस्सदि, एदस्सिं महाराअकज्जरहस्से तुमं तीए पिअ-सही राअकज्जसज्जत्ति अब्भत्थीअसि। ण हु सोवाणवंतिमंतरेण वलहो समारोहो। तदो मए हरदासकधिदकज्जाणुसारेण सा सुवीसद्धं भणिदा, अइ सहि मिअंकावलि! इह वासघरे मअरद्धओ ओदरदि तं अ सहिं दट्ठूणकंठट्ठिदहारकुसुमदामेण सो तुए अच्चिदव्वो, जेण दे ता दिसोभत्ता होदित्ति, तए वि नह अव्भुवअदं किदंअ। पुणो हिंदोलएदंसिदा केलि-केलासवासघरफलिहभित्तिसु अत्तणो चित्तं लेहाविदा, फलिहभित्तिए परदो दंसिदा, तदणुवादिणीसालभंजिआ णिम्माविदा, रअणवदीए चउक्किआए गड्डुएण खेलाविदा, खंमगब्भसंचारे तं तं भणाविदा मभाविदा अ।

(विनीतोपनतया मया तथेति प्रतिपन्नम्। कथितं च मे तेन यथा एष यो मृगाङ्कवर्मा सा मृगाङ्कावली, तां परिणीय श्रीयुवराजेन चक्रवर्तिना भवितव्यं, तस्मात् त्वया ननु कदाचिद्भवनभित्तिसञ्चारे वासगृहे एषा वासयितव्या, येन देवस्य स्वप्नागमो भवति, कार्यान्तराणि ते हरदासः कथयिष्यति। एतस्मिन् महाराजकार्यरहस्ये त्वं तस्याः प्रियसखी राजकार्यसज्जेति अभ्यर्थ्यते। न खलु सोपानपंक्तिमन्तरेण वलभीसमारोहः। ततो मया हरदासकथितकार्यानुसारेण सा सुविस्रब्धं भणिता, अयि सखि मृगाङ्कावलि! इह वासगृहे मकरध्वजोऽवतरति,

---

विच०—विनीत भाव से मैंने हाँ कर ली। उन्होंने मुझसे कहा—यह जो मृगाङ्कवर्मा है, वह मृगाङ्कावली नामक स्त्री है। उसके साथ विवाह कर श्री युवराज, चक्रवर्ती हो जाँयगे। तो तुम किसी समय भवन-भित्ति-सञ्चार वासगृह में उसे रखना जिससे स्वामी स्वप्न में उसे देखें। अन्य कार्य तुमको हरदास बतायेगा। महाराज के इस गोपनीय कार्य में तुम मृगाङ्कावली की प्रियसखी बनो और राजा का काम बनाने के लिए तैयार रहो—यही तुमसे प्रार्थना है। विश्वास उत्पन्न कर मैंने मृगाङ्कावली से कहा—अयि सखि मृगाङ्कावलि! इस वासगृह में

तत्र तस्मिन् दृष्ट्वा कण्ठस्थितहारकुसुमदाम्ना स त्वयाऽर्चितव्यः, येन ते तादृशो भर्ता भवतीति । तयापि तथाऽभ्युपगतं कृतञ्च । पुनर्दोलायां दर्शिता, केलिकैलासवासगृहस्फटिकभित्तिषु आत्मनश्चित्रं लेखिता, स्फटिकभित्तेः परतो दर्शिता, तदनुकारिणी शालभञ्जिका निर्मापिता, रत्नवत्याश्चतुष्किकायां कन्दुकेन खेलिता। स्तम्भगर्भसञ्चारे तत्तद्रणिता भ्रामिता च)

मूल०—अध तं विविहविलासेहिं पेक्खंतेण महाराएण किं पडिवण्णं। (अथ तां विविधविलासैः पश्यता महाराजेन किं प्रतिपन्नम् ।)

विच०—जं केलि अरिणी चाडुकमे चलिदो अरण्णकरी पडिवज्जस्सदि। तदो तरुणपोफुल्लगुच्छविच्छुरिददविडसामलङ्गीगंडविसदासु मुद्धजामिणीसु असमंजसं विप्पलवदि तं जधा। (यत् केलिकरिणीचाटुकने चलितोऽरण्यकरी प्रतिपत्स्यते । ततस्तरुणप्रोत्फुल्लगुच्छविच्छुरितद्रविडश्यामलाङ्गीगण्डविशदासु मुग्धयामिनीषु असमञ्जसं विप्रलपति । तद् यथा।)

कामदेव प्रकट होते हैं। उनका दर्शन पाने पर अपना कण्ठस्थित हार चढ़ा कर उनकी अर्चना करना—जिससे उन्हीं ऐसा तुम्हें पति मिले। उसने भी अङ्गीकार कर लिया और वैसा ही किया। फिर झूले पर स्वामी को अपना दर्शन दिया, केलिकैलास नामक वासगृह की स्फटिकमय दीवालों पर अपना चित्र चित्रित कराया। (तदनन्तर) स्फटिक की दीवाल की आड़ में दर्शन दिया। अपने रूप से सर्वथा मिलती-जुलती शालभञ्जिका (मूर्ति) निर्मित कराई। रत्नावली की चौकी पर उसने कन्दुक-क्रीड़ा की। स्तम्भगर्भसंचार गृह में तत्तद् कहलाई गाई और घुमाई गई।

मुख०—इसके अनन्तर अनेक प्रकार के विलास (हाव-भाव) करती देखकर महाराज ने क्या किया ?

विच०—क्रीडाहस्तिनी की चाटुकारिता में पड़ा हुआ वन्यहस्ती जो करेगा। इसके बाद पूर्ण विकसित पुष्पों के गुच्छों से द्रविड़ देश की साँवली सुन्दरी के कपोलों के समान उज्ज्वल स्वच्छ रातों में महाराज असङ्गत प्रलाप करने लगे। जैसे—

तृतीयोऽङ्कः

(संस्कृतमाश्रित्य)

श्यामां श्यामलिमानमानयत भोः सान्द्रैर्मषी-कूर्चकै-
र्मन्त्रं तन्त्रमुत प्रयुज्य हरत श्वेतोत्पलानां रुचम्।
चन्द्रं चूर्णयत क्षणाच्च कणशः कृत्वा शिलापट्टके
येन द्रष्टुमहं क्षमे दश दिशस्तद्वक्त्रमुद्राङ्किताः ॥ १ ॥

सुल०—तीए उग का अवत्था वट्टदि ? (तस्या पुनः काऽवस्था वर्तते ?)

विच०—(संस्कृतमेवाश्रित्य)

सौधादुद्विजते त्यजत्युपवनं द्वेष्टि प्रभामैन्दवी-
मारान् भ्रम्यति चित्रकेलिसदसो वेशं विषं मन्यते ।
आस्ते केवलमब्जिनीकिसलयप्रस्तारशय्यातले
संकल्पोपनमत्वदाकृति-रमायत्तेन चित्तेन सा ॥ २ ॥

संपदं तुमं कहेहि कीदिसं ते महिलाछग्गुण्णं (साम्प्रतं त्वं कथय कीदृशन्ते महिलाषाड्गुण्यम्)

(संस्कृत में)

अरे गाढ़ी कालिख युक्त तूलिका से कृष्णपक्ष की रात को और अधिक काली बना दो अथवा तन्त्र-मन्त्र का प्रयोग कर श्वेत कमलों की मनोहरता को दूर कर दो। क्षण भर में चन्द्रमा को शिला पर पीस कर टुकड़े टुकड़े कर पीस डालो, जिससे मैं दसों दिशाओं को उस सुन्दरी की मुख-मुद्रा से अङ्कित देख सकूँ ॥ १ ॥

सुलक्षणा—उस (मृगाङ्कावली) की क्या दशा है ?

विचक्षणा—(संस्कृत में)

महल में रहने से उद्विग्न हो जाती है, उपवन को भी छोड़ देता है, चन्द्रमा की प्रभा से द्वेष करती है, चित्र-केलि नामक वासगृह से भी बहुत दुःखी होती है, वस्त्राभूषण को विष सा समझती है। केवल कल्पनाओं से युक्त तथा उस (महाराज) के रूप के ध्यान में मग्नचित्त (हुई) कमलिनी के नूतन कोमल पत्तों की शय्या पर पड़ी रहती है ॥ २ ॥

अब तुम्हारा स्त्रियोचित षड्गुण कैसा है ? बताओ।

सुल०—सुणु जादिसं। एक्कदाहं महाराएण सप्पसादं संदिट्ठा, जधा, ण तुए णिभिण्णरहस्सा देवी कादव्वत्ति। (शृणु यादृशम्। एकदा अहं महाराजेन सप्रसादं सन्दिष्टा, यथा न त्वया निर्भिन्नरहस्या देवी कर्तव्येति।)

विच०—किं विअ तं। (किमिव तत्।)

सुल०—जहा, अलिअविवाहविलक्खो चाराअणो देवी धारोइअं पदारिदुमिच्छदि। ता दिणावसाणसमए तरुणवणराइनीरंधअंधआरे केसरतरुसिहरं आरुहिअ पमदुज्जाणमज्झगामिणी मेहला तए साणुणासिअं भणिदव्वा, जहा अयि मेहले! इह वेसाहपुण्णिमा पओसे एव तुए मरिदव्वंति। भणिदा अ सा। (यथा अलीकविवाहविलक्षश्चारायणो देवी धात्रेयीं प्रतारयितुमिच्छति। तद दिनावसानसमये तरुणवनराजिनीरन्ध्रान्धकारे केसरतरुशिखरमारुह्य प्रमदोद्यानमध्यगामिनी मेखला त्वया सानुनासिकं भणितव्या। यथा, अयि मेखले! इह वैशाखपूर्णिमा-प्रदोष एव त्वया मर्तव्यमिति। भणिता च सा।)

विच०—तदो तदो। (ततस्ततः।)

सुल—तदो तीए सज्झसवसवेविदए कहं वि तत्त हविअ कदंणिवि-डखलिसंपुडाए भणिदं, भअवदि असरीरिणि दिव्वे वाणि! मं अणुकंप-

---

सुल०—जैसा है सुनो। एक बार महाराज ने मुझसे प्रसन्न होकर कहा कि देवी को रहस्य का पता न चलने पावे।

विच०—महाराज ने तुम्हें क्या बताया?

सुल०—मिथ्या विवाह से अप्रसन्न चारायण देवी की धात्री की लड़की को छलना चाहता है। तो तुम सायंकाल के समय तरुण-वन के घने अंधकार में मौलसरी वृक्ष के शिखर पर चढ़कर प्रमदोद्यान के अन्दर जाती मेखला से सानुनासिक स्वर में कहना—"मेखले! इसी वैशाख की पूर्णिमा को शाम को ही तू मर जाएगी।" और ऐसा मैंने उससे कहा।

विच०—इसके बाद।

सुल०—तब भय-वश कम्पित उसने किसी तरह वहाँ रुककर दोनों हाथ जोड़कर कहा—हे भगवति अशरीरिणि दिव्ये वाणि! मुझ पर अनुकम्पा करना।

तीए जधा मरणं तुए जाणिदं जीविदं वि मे जान । (ततस्तया साध्वसवशवेपितया कथमपि तत्र भूत्वा कृतनिबिडाञ्जलिमनुरया भणितं, भगवति अशरीरिणि दिव्ये वाणि, मामनुकम्पयन्त्या यथा मरणं त्वया ज्ञातं जीवितमपि मे जानीहि ।)

विच०—तदो तदो । (ततस्ततः ।)

सुल०—तत्य मए एव्वं भणिदं, जइ गंधव्ववेअविअक्खणं बह्मणं गुरुणा अच्चणासक्कारेण अहिणंदिअ पाएसु पडंती जंघन्तरमग्गदुवारेण मञ्चरसि तदो दे जीविदावलंबोत्ति । (तत्र मयैव भणितम्, यदि गन्धर्ववेदविचक्षणं ब्राह्मणं गुरुणाऽर्चनासत्कारेणाभिनन्द्य पादयोः पतन्ती जङ्घान्तरमार्गद्वारेण सञ्चरसे ततस्ते जीवितावलम्ब इति ।)

विच०—अहो दे विअक्खणत्तणं । जदो मुणिणो वि एवं सुमरंति, पादाहिंतो बह्मणा पवित्तअंति सव्वं । (विभाव्य) अहो कवडणाडअकइत्तणं बह्मणस्स । तदो ? (अहो ते वैचक्षण्यम् । यतो मुनयोऽप्येवं स्मरन्ति पादेभ्यो ब्राह्मणाः पवित्रयन्ति सर्वम् । अहो कपटनाटककवित्वं ब्राह्मणस्य ।)

सुल०—तदो तं सुणिअ मेहलाए अस्सुजलज्झलाइं उच्चमन्तीए महाराअपुरदो एव्व भणिदा देवी । देवेण वि देवी मण्णुं अवहरंतेण चारायणचरिदं अ णिव्वहंतेण भणिदं, जह सुंदरि ! मा सण्णा होहि, गंधव्ववेअविअक्खणो बह्मणो साहीणो एव्व । ता किंत्ति अस्सुकणकरं-

---

तुमने जिस प्रकार मेरी मृत्यु जान लिया, मेरा जीवन भी जानो—अर्थात् मेरे जीवन का भी उपाय बताओ ।

विच०—इसके बाद ।

सुल०—तब मैंने कहा—यदि महती पूजा-अर्चना से गन्धर्व वेद के ज्ञाता ब्राह्मण को प्रसन्न कर—चरणों पर गिरती हुई जाँघों के बीच के मार्ग से निकल जाओ तो तुम्हारा जीवन रह जायगा ।

विच०—तुम्हारा भी कैसा नैपुण्य है ! मुनि लोग भी स्मरण करते हैं कि ब्राह्मण पैरों से पवित्र करते हैं । (सोचकर) अहो ! ब्राह्मण ने भी कैसा कपट नाटक रचा !

सुल०—इसके बाद आँसुओं की झलझलाहट से अपने हर्ष को सूचक

विअविवाहरा वट्टसित्ति संट्ठाविदा देवी। देवीए वि अज्ज सा पुण्णिमेत्ति पूआसक्कारं सज्जीकादुं पेसिदह्मि। (ततस्तच्छ्रुत्वा मेखलयाऽश्रुजलस्खलनुद्रवमन्त्या महाराजपुरत एव भणिता देवी। देवेनापि देवी-मन्युमपहरता चारायणचरितं च निर्वहता भणितं, यथा, सुन्दरि, मा सन्ना भव, गन्धर्ववेदविचक्षणो ब्राह्मणः स्वाधीन एव। तस्मात् किमिति अश्रुकणकरम्बितबिम्बाधरा वर्तसे इति संस्थापिता देवी। देव्यापि अद्य सा पूर्णिमेति पूजासत्कारं सज्जीकर्तुं प्रेषितास्मि।)

विच०—ता एहि जधाणिदिट्ठमणुचिट्ठम्ह। [इति निष्क्रान्ते।]
(तस्मादेहि यथानिर्दिष्टम् अनुष्ठास्यावः।)

इति प्रवेशकः

(ततः प्रविशति विरहोत्कण्ठितो राजा स्नानशुचिर्विदूषकश्च).

राजा—(अनुध्याननाटितेन)

क्रमसरलितकण्ठ प्रक्रमोल्लासितोर-
स्तरलितवलिरेखासूत्रसर्वाङ्गमस्याः।

करती हुई मेखला ने महाराज के सामने ही महारानी जी से सब बातें कहीं। महाराज ने भी महारानी का क्रोध दूर करते हुए एवं चारायण के चरित का निर्वाह करते हुए कहा—सुन्दरि ! दुःखी मत हो। गन्धर्व वेद का ज्ञाता ब्राह्मण तो अपने अधीन ही है। तो क्यों अपने बिम्ब-फल (पके कुँदरू) के समान लाल अधर को आँखों से गिरते अश्रु कण से संयुक्त करती हो। इस प्रकार महाराज ने महारानी को आश्वासन दिया। तो आज वही पूर्णिमा है अतएव महारानी ने पूजा-सामग्री तैयार करने के लिए मुझे भेजा है।

विच०—तो आओ निर्देशानुसार हम अपना काम करें। (दोनों निकल गईं।)

(प्रवेशक समाप्त हुआ)

(इसके बाद विरह से उत्कण्ठित राजा और स्नान किए हुए विदूषक)

राजा—(ध्यान का अभिनय कर)

मुझे देखने की इच्छुक उस सुन्दरी के समस्त अङ्गों का मैं सोत्कण्ठ स्मरण करता हूँ। मुझे देखते समय उसने क्रम से पहले गर्दन सीधी की, (उसका) उरः प्रदेश ऊँचा हो गया एवं वलिरेखा-सूत्र भी तरङ्गित हो गया।

स्थितमतिचिरमुच्चैरप्रपादाङ्गुलीभिः
करकलितसखीकं मां दिदृक्षोः स्मरामि ॥ ३ ॥

विदूषकः—मा समाधानभंगं मे कुण, देवीपुरदो मेहला जीवइदव्वा। (स्वगतम्) अइ दुट्ठदासि! दोसिणि कुद्धो चाराअणो पीडइस्सदि।
(मा समाधानभङ्गं मे कुरु। देवीपुरतो मेखला जीवयितव्या। अयि दुष्टदासि, दोसिणि, क्रुद्धश्चारायणः पीडयिष्यति।)

राजा—(तद्वचनमाकर्ण्य तदेव पुनः पठति)

विदूषकः—मा पुणो पुणो सुमर, संदावदाइणी क्खु एसा। (मा पुनः पुनः स्मर, सन्तापदायिनी खल्वेषा।)

राजा—किमात्थ सन्तापकारिणीति? तथा हि पञ्चमकाकलीकलगीतयः कर्णं कलुषयन्ति, सुधास्यन्दिनी चन्द्रमूर्तिश्चक्षुषी तापयति, चन्दनरसनिष्यन्दस्तनुं दहति?

विदूषकः—भो वक्कं मए किदं, तुमं जेव्व सव्वदो सारं उच्चिणासि। हंसो जेव्व जलेहिं दुद्धमुद्धरेदि। किं उण भणामि, मए अज्झमणं बज्झा विअ तुए विसुमरिदा देवी। (भोः, वक्रं मया कृतम्, त्वमेव सर्वस्मात्

हाथ से सखी को पकड़े एवं पैरों के बलों के बल उचककर यह बड़ी स्थिरता से मुझे देखने लगी ॥ ३ ॥

विदूषक—मेरा ध्यान भङ्ग मत करो। मुझे महारानी के सामने 'मेखला' को जीवन प्रदान करना है। अयि दुष्टदासि! 'ज्योत्स्नानिनि'! क्रुद्ध चारायण तुम्हें परेशान करेगा।

राजा—(उसके वचन को सुनकर पुनः उसी श्लोक को पढ़ता है)

विदूषक—बार २ उसी का स्मरण मत करो। वह तो अत्यधिक सन्ताप प्रदान करने वाली है।

राजा—क्यों सन्तापकारिणी कहते हो? क्या कोयल का पञ्चमस्वर-पूर्ण गान कानों को कलुषित करता है—कानों को अच्छा नहीं लगता?, क्या अमृत बरसाने वाले चन्द्रमा का रूप नेत्रों को तप्त करता है? क्या चन्दन रस का लेप शरीर को जलाता है?

विदूषक—अरे मैं तो मजाक कर रहा था। तुम्हीं तत्त्व-चयन करना जानते

सारम् उच्चिनोषि। हंस एव जलेभ्यो दुग्धमुद्धरति। किं पुनर्भणामि, यथा अध्ययनविधिरेव त्वया विस्मृता देवी।)

राजा—आ शैशवात् प्ररूढप्रणया देवी कथं विस्मर्यते? किन्तु—

देव्या निधायोरसि वामपादं यत् सुन्दरीभिः प्रसभेन भुक्तम्।
कृतं मनोरिक्थमहो द्विधा तत्तथा विभज्य स्मरशासनेन ॥ ४ ॥

विदू०—अकह्मा हिंदोलदोलिदं विअ दे चित्तं गमागमाहिं ण विरमदि। (अकस्माद्दोलान्दोलितमिव त्वच्चित्तं गमागमाभ्यां न विरमति।)

राजा—एवमेतत्। यतः—

नो मालतीदामविमर्दयोग्यं
न प्रेम नव्यं सहतेऽन्तरायम्।
म्लानापि मोच्या न हि केसरस्रग्
देवी न खण्डा प्रणया कथञ्चिन् ॥ ५ ॥

विदू०—भोः, किं एदेण दक्खिण्णवण्णोवण्णासेण? पुराणपत्तमणिप्फालिअ णो पल्लओ समुल्लसदि। ण अ तरुणगंढिवण्णअवंदलीकअलसल्लुदो गंधहत्थिणो मदणकेदारिआए अहिरमदि। (भोः किम् एतेन,

---

है। हंस ही जल से दूध अलग करता है। अच्छा मैं कहता हूँ तेरी पढ़ी विद्या की भाँति महारानी को तुमने क्यों भुला दिया!

राजा—शैशव काल से ही बढ़े हुए प्रेमवाली देवी कैसे भुलाई जा सकती है! किन्तु

देवी के हृदय पर बायाँ पैर रख उस सुन्दरीने कामदेव के आदेश से मेरे मनरूपी संपत्ति का बँटवारा कर दो भाग कर दिया ॥ ४ ॥

विदूषक—अकस्मात् झूले पर चढ़ा हुआ सा तुम्हारा चित्त संकल्प-विकल्प से विराम नहीं लेता।

राजा—ऐसा ही है। क्योंकि—

मालती की माला मसलने योग्य नहीं। नूतन प्रेम व्यवधान नहीं सह पाता। म्लान होते हुए भी मौलसिरी की माला छोड़ते नहीं बनती। महारानी जी से किसी प्रकार भी प्रेम तोड़ा नहीं जा सकता है ॥ ५ ॥

विदूषक—इन चातुर्यपूर्ण वचनों से क्या! बिना पुराना पत्ता नष्ट किए

दाक्षिण्यवर्गोपन्यासेन, पुराणपत्रमविदार्य न पल्लवं समुल्लसति, न च तरुणग्रन्थिपर्णकन्दलीकवलनलुब्धो गन्धहरिणो मदनकेदारिकायाम् अभिरमते।

राजा—सखे! निरर्गलवागसि। यदनाशङ्कनीयं तदाशङ्कसे।

विदू०—किं मम परकेरआए चिन्ताए। ता भणीअसि, मा समाधानभंगं मे कुण, देवीए पुरदो मेहला जीवइदव्वत्ति। (किं मम परकीयया चिन्तया। तस्मात् मण्यसे, मा समाधानभङ्गं मे कुरु। देव्याः पुरतो मेखला जीवयितव्येति।)

(ततः प्रविशति देवी, प्रयता च मेखला, विभवतश्च परिवारः)

देवी—हला सुलक्खणे। अपि संणिहिदो अंतेउरदुवारवट्टी अज्जउत्तो चाराअणो अ। (हला सुलक्षणे! अपि सन्निहितोऽन्तःपुरद्वारवर्ती भर्ता चारायणश्च।)

सुलक्खणा—ण अण्णहा देवीए विण्णवीअदि? (नान्यथा देव्यै विज्ञाप्यते?)

देवी—ता देहि मे मग्गं। (तस्माद्देहि मे मार्गम्।)

पल्लव नहीं निकलता है, नवीन ग्रन्थिपर्ण (गाँडर दूब) के अङ्कुरों के खाने का लोभी कस्तूरीमृग धतूरे को क्यारी में नहीं रमता।

राजा—तुम निरर्गल बातें करते हो। जिसकी शङ्का नहीं करनी चाहिए—उसी की शङ्का करते हो।

विदूषक—मुझे परायी चिन्ता से क्या! इसीलिए तुम से कहता हूँ कि मेरा ध्यान भङ्ग मत करो। महारानी के सामने 'मेखला' को मुझे जीवन-प्रदान करना है।

(तदनन्तर देवी, प्रयत [इन्द्रियों को दमन किये हुए सावधान] मेखला तथा अपने पद के अनुसार परिजन)

देवी—सुलक्षणे! क्या स्वामी और चारायण अन्तःपुर के द्वार के पास आ गये?

सुलक्षणा—देवी से असत्य नहीं कहा जाता।

देवी—तो मार्ग-निर्देशन करो।

कुल०—एदु एदु देवी। (इति परिक्रामति) अन्तेउरदुवार एत्थ भट्टा वट्टदि, ता उवसप्पदु देवी। (एतु एतु देवी, अन्तःपुरद्वार एव भर्ता वर्तते, तस्मादुपसर्पतु देवी।)

देवी०—(उपसृत्य) जेदु अज्जउत्तो। (जयतु आर्यपुत्रः।)

राजा—इत आस्यताम्।

देवी—(उपविश्य विदूषकं प्रति) अज्जचारायण! देहु मे धत्तेइआभिक्खां जोवावेसु मेहलअं। (आर्य चारायण! देहि मे धात्रेयिकाभिक्षां, जीवय मेखलाम्।)

विदू०—एस सज्जोह्मि। (एष सज्जोऽस्मि।)

मेखला—(बद्धाञ्जलिः) अज्ज चारायण! अअं जणो तुमं महाबह्मणं सरणं पडिवज्जदि। (आर्य चारायण! अयं जनस्त्वां महाब्राह्मणं शरणं प्रतिपद्यते।) [इति पादौ शिरस्यारोपयति।]

(नेपथ्ये) कहिं सा दुट्ठदासी, एदे अह्मे कालपुरिसा सिङ्खलाहिं पाविआ। (क्व सा दुष्टदासी, एते वयं कालपुरुषाः शृङ्खलाभिः प्राप्ताः।)

विदू०—(भंत्वा बहुविधं दण्डकाष्ठमुद्यम्य) जहिं अहं विद्धलिआवल्लहो गन्धव्ववेअविअक्खणो रक्खको चिट्ठामि। तहिं वो कालो के कालपुरिसा का वा कालसिंखला। (यत्राहं विद्धलिकावल्लभो गन्धर्ववेद-

---

सुलक्षणा—आइये! आइये! स्वामी अन्तःपुर के द्वार पर ही हैं, तो देवी जी चलें।

देवी—(निकट जाकर) आर्यपुत्र की जय हो।

राजा—इधर बैठिये।

देवी—आर्य चारायण! धात्री-पुत्री की मुझे भीख दो। इसे जिलाओ।

विदूषक—यह मैं तैयार हूँ।

मेखला—(हाथ जोड़कर) आर्य चारायण! यह जन आप महाब्राह्मण की शरण में है। (ऐसा कह उसके चरणों को सिर पर रख लेती है।) [नेपथ्य में] वह दुष्टदासी कहाँ है। ये हम काल-पुरुष शृङ्खला लिये आ गए हैं।

विदूषक—(उठकर लाठी तानकर) जहाँ मैं विद्धलिका का स्वामी और

विचक्षणो रक्षकस्तिष्ठामि तत्र कः कालः, के वा कालपुरुषाः, का वा कालशृङ्खला ?)
[इति बहुविधं वल्गति ।]

मेखला—(पादयोरन्तरे प्रविशन्ती) भो ! परित्ताअसु मं। (भोः, परित्रायस्व माम् ।)

विदू०—(उच्चैर्गायन्नवार्य) भो पेक्ख विलासिणीबह्मरहाहिरूढं अत्तणो पिअवअस्सं । (किञ्चिदुच्चैः) भो भोः पेक्खधमे बह्मणत्तणं जेण खलाखलायिदसिंखला पणट्ठा काल-पुरिसा । (भोः पश्य विलासिनी-ब्रह्मरथाधिरूढम् आत्मनः प्रियवयस्यम् । भो भोः, पश्यत मे ब्राह्मण्यं यत् खलाखलायित शृङ्खलाः प्रनष्टाः कालपुरुषाः ।)

मेखला—भो जीविदह्मि । (भो जीवितास्मि)

विदू०—(साट्टहासं विहस्य) आः दासीए सुदे ! अलीअविवाह-विडम्बिदो क्कुद्धो चाराअणो दे पडिकिदिदवसिदो । ता संपदं एत्तिअमेत्तं आसंसे दीहमभग्गकंकणा मोदु मे बह्मणी । (आ दास्याः सुते ! अली-कविवाहेन विडम्बितः क्रुद्धश्चारायणः ते प्रतिकृतिमवसितः । तस्मात् साम्प्रतमेता-वन्मात्रमाशंसे दीर्घमभग्नकङ्कणा भवतु मे ब्राह्मणी ।)

गन्धर्ववेद का विद्वान रक्षक हूँ, वहाँ काल क्या है ? कालपुरुष क्या है ? काल-शृङ्खला क्या है ? (इस तरह बहुविध बकता है ।)

मेखला—(उसके पैरों के बीच प्रवेश करती हुई) अरे मुझे बचाओ ।

विदूषक—(जोर से गाता हुआ, रोककर)

अरे (मित्र !) (इस) वेश्यारूपी ब्रह्मरथ पर चढ़े अपने मित्र को देखो। (कुछ जोर से) मेरा ब्राह्मणत्व देखो ! खनखनाती शृङ्खला वाले कालपुरुष भाग गये।

मेखला—अरे ! मैं जीवन पा गई ।

विदूषक—(अट्टहास के साथ हँसकर) अरे दासी-पुत्रि ! मिथ्या-विवाह से तिरस्कृत क्रुद्ध चारायन ने बदला ले लिया। तो इस समय इतनी ही अभिलाषा करता हूँ कि मेरी ब्राह्मणी चिर सौभाग्यवती हो ।

देवी—अज्जउत्त! जुत्तं ण असरिसं णम्म, जं दाणीं दे पिआसिणिद्धभूमी मेहला एवं विडंबीअदि। (आर्यपुत्र! युक्तं न, असदृशं नर्म, यदिदानीन्ते प्रियास्नेहभूमिर्मेखलैवं विडम्ब्यते।)

विदू०—भोदि जुत्तं ण असरिसं णम्म, जं दाणीं महाराअपिअवअस्सो तह विडंविदो। (भवति, युक्तं न असदृशं नर्म, यदिदानीं महाराजप्रियवयस्यस्तथा विडम्बितः।)

देवी०—अज्जउत्त-संबंधिओ त्ति तुए सह वक्कं किदं। (आर्यपुत्रसम्बन्धिक इति त्वया सह चोद्यं कृतम्।)

विदू०—भोदि संबंधिणी त्ति तए सह मए पडिवक्कं किदं। (भवति, सम्बन्धिनीति तया सह मया प्रतिचोद्यं कृतम्।)

मेखला—देवि, ण सक्कीअदि एस उत्तरेहिं पराजेदुं महाराओ एदस्स गुरुः। केअइकुसुमवासिदस्स खदिरस्स अण्णो गंधुग्गारो। (देवि! न शक्यते एष उत्तरैः पराजेतुं, महाराज एतस्य गुरुः। केतकीकुसुमवासितस्य खदिरस्यान्यो गन्धोद्गारः।)

देवी—आर्यपुत्र! यह तो उचित नहीं है, यह दिल्लगी अच्छा नहीं है, जो इस प्रकार अभी तुम्हारी प्रिया की स्नेह-पात्र मेखला अपमानित की गई।

विदूषक—श्रीमति! यह उचित नहीं, यह दिल्लगी अच्छी नहीं, जो अभी अभी महाराज का प्रियमित्र उस तरह अपमानित किया गया।

देवी—तुम आर्यपुत्रसे सम्बन्ध (मैत्री) रखते हो, अतः मैंने उसके साथ बदले में मज़ाक किया।

विदूषक—श्रीमती जी! यह आपकी सम्बन्धिनी है (स्नेह-पात्र है) अतः मैंने उसके साथ बदले में मज़ाक किया।

मेखला—देवी! यह उत्तरों से पराजित नहीं हो सकता। महाराज इसके गुरु हैं। केतकी के पुष्पों से सुवासित खदिर (खैर) की एक विचित्र ही गन्ध होती है।

(देवी कोपनाटितकेन सपरिवारा निष्क्रान्ता)

विदू०—(पार्श्वमवलोक्य) भो संपदं णिम्मक्खिअं मधु पिवस्सामो। (भोः साम्प्रत निर्मक्षिकं मधु पास्यामः।)

राजा—अतिविलक्षा देवी, यतो रुदती गता।

विदू०—रुददु रुददु, किं से मोतिआओ गलिस्संति। ता इदो उज्जाणाहिमुहं एदु पिअवअस्सो। [इति परिक्रामतः।] (रोदितु, रोदितु, किम् अस्या मौक्तिकानि गलिष्यन्ति। तस्मादित उद्याना भिमुखम् एतु प्रियवयस्यः।)

विदू०—भो मह कण्ठट्ठाविदपाणी णिसणिविसेसिदपादमुदं संचर। जदो बहलालिउलणिम्मिदं व, तेलभज्जिदकज्जलपुंजसंजणिदं व, इंदणीलचुण्णसंभूदं व, सिदिकण्ठकण्ठसमुत्थिदं व, णाराअणतणुणिग्गिदं व, मिअंककलंकणिग्गलिदं व, कुवलअवणपरिकप्पिदं व, करिकरटवइदाणप्पवट्टिदं व, तिमिरचक्कवालं अणभिण्णादसमविसमं अणिघिदसामधवलं, अपरिच्छिण्णगलहुदीइं अणधिगदहिअहरत्तिमाअं अ भुवण गब्भंमाअं करेइ। (भोः, मम कण्ठस्थापितपाणिर्निशमनिवेशितपादमुद्रं सञ्चर। यतो बहलालिकुलनिर्मितमिव तैलभर्जितकज्जलपुञ्जसञ्जनितमिव इन्द्रनीलचूर्णसंभूतमिव शितिकण्ठकण्ठसमुत्थितमिव नारायणतनुविनिर्गतमिव, मृगाङ्ककलङ्कनिर्ग-

---

(देवी क्रोध का अभिनय करती परिजन समेत चली गईं)

विदूषक—(बगल की ओर देखकर) भोः (अरे) हम अब एकान्त में (जहाँ एक मक्खी तक भी न हो) मधु पियेंगे।

राजा—देवी अत्यन्त क्रुद्ध हैं—क्योंकि रोती हुई गई हैं।

विदूषक—रोयें और रोयें। क्या इनके मोती गल जाँयगे? तो प्रियमित्र उद्यान की ओर आयें।

अरे! मेरे गले में हाथ डालकर धीमे-धीमे सँभालकर पैर रखते हुए चलो क्योंकि अन्धकार इतना बढ़ गया है कि मानो असंख्य भौंरों के समुदाय से इसका निर्माण हुआ है अथवा तेल से भुने काजल-पुञ्ज से उत्पन्न हुआ है, अथवा चमकीले मरकत मणियों के चूर्ण से प्रकट हुआ है अथवा शिवजी के कण्ठ से उत्पन्न हुआ है, अथवा विष्णु भगवान के शरीर से निकला हुआ है

लितमिव, कुवलयवनपरिकल्पितमिव, करिकरटतटदानप्रवर्तितमिव तिमिरचक्रवालम् अनभिज्ञातसमविषमम् अनिश्चितश्यामधवलम् अपरिच्छिन्नलघुदीर्घम् अनधिगतदिवसविभागञ्च भुवनगर्भाङ्गनं करोति ।)

राजा—एवमेतत् ।

तनु लग्ना इव ककुभः क्ष्मावलयं चरणचारमात्रमिव
वियदपि चालिकदम्बं मुष्टिमाह्यं तमः कुरुते ॥ ६ ॥

(किञ्चित्तर्कयामि)

उत्तंसः केकिपिच्छैर्मरकतवलयश्यामले दोःप्रकाण्डे
हारः सान्द्रेन्द्रनीलैर्मृगमदरचितो वक्त्रपत्रप्रपञ्चः ।
नीलाब्जैः शेखरश्रीरसितवसनता चेत्यभीकाभिसारे
संप्रत्येणेक्षणानां तिमिरभरसखी वर्तते वेष-रेखा ॥ ७ ॥

अथवा चन्द्रमा के कलङ्क से मिल कर प्रवाहित हुआ है, अथवा नीले कमलवन से रचा गया है अथवा हाथियों के गण्डस्थल के बहे मदजल से बनाया गया है। इस अन्धकार से संसार का आन्तरिक भाग इतनी बुरी तरह आच्छादित है कि सम एवं विषम भूमि का ज्ञान नहीं हो रहा है, काले और श्वेत का निश्चय नहीं हो पा रहा है, छोटे और बड़े में भेद नहीं मालूम पड़ रहा है और दिन है या रात इसका पता नहीं चलता।

राजा—सही है, ऐसा ही है।

अन्धकार ने दिशाओं को शरीर से लगा दिया है (दिशाओं का ज्ञान नहीं होता, मालूम होता है कि सिमिट कर वे शरीर के पास ही आ गई हैं।) इसी प्रकार पृथ्वी मण्डल को एक पग भर का सा कर दिया है। आकाश को भी मुट्ठी से ग्रहण करने योग्य (अत्यन्त लघु) बना दिया है ॥ ६ ॥

निर्भयतापूर्वक अभिसार की इस वेला में मयूर की पूँछों का कर्णफूल, मरकतमणि के कंकणों से श्यामल भुजदण्ड, गहरे रंग के इन्द्रनील मणियों का हार, कस्तूरी के रस से लिप्त मुख मण्डल, शिर पर नीलकमलों की धारण की गई माला, नीले वस्त्र का धारण करना आदि—मृगनयनियों की यह वेष-रचना मानो प्रगाढ़ तिमिर की सखी (प्रिया) है—उसके अत्यन्त अनुकूल है ॥ ७ ॥

(नेपथ्ये)

कट्ठिददुद्धमुद्धकरतरलिअजलणिहिसलिलसंचओ
तिहुवणभवणविच्छुरणच्छसुहारसधवलकुच्चओ ।
चंदो मअणवल्लिपल्लवणमहो सहि सरिसजोह्णओ
पुव्वदिसामुहम्मि उम्मिलइ चन्दणपङ्ककलिलोव्व ललिओ ॥८॥
(क्वथितदुग्धमुग्धकरतरलितजलनिधिसलिलसञ्चय
त्रिभुवनभवनविच्छुरणाच्छसुधारसधवलकूर्चकः ।
चन्द्रो मदनवल्लीपल्लवनमहो सखि सदृशज्योत्स्नः
पूर्वदिशामुखे उन्मीलति चन्दनपङ्कलिल इव ललितः ॥ ८ ॥)

अपि च

जणाणंदो चंदो लसइ मलिणीहोइ णलिणी
विसप्पन्ते तारा रअणिमिग्हिाग दिसि दिसि ।
रहंगा तत्तंगा विरह-सिहिणा दुव्वविहिना
इमे दुक्खक्कंता ससिकरकिलंता विहडिदा ॥ ९ ॥
(जनानन्दश्चन्द्रो लसति मलिना भवति नलिनी
विसर्पन्ति तारा रजनीश्रीहारा दिशि दिशि ।
रथाङ्गास्तप्ताङ्गा विरहशिखिना दग्धविधिना
इमे दुःखाक्रान्ताः शशिकरक्लान्ता विघटिताः ॥ ९ ॥)

(नेपथ्य में)

कुछ कुछ बिलोये हुए दूध की भाँति स्वच्छ करों (किरणों, हाथों) से समुद्र की जल-राशि को चंचल कर देने वाला, त्रिभुवन भवन को पोतने के लिए स्वच्छ सुधारस (अमृत, चूने का घोल) को श्वेत कूँची वाला, काम लता को पल्लवित करने वाला, ज्योत्स्ना को साथी सा बनाए हुए, पूर्वदिशा के मुख पर चन्दन-रस की राशि सा ललित चन्द्रमा उदित हो रहा है ॥ ८ ॥

और भी

लोगों को आनन्द देने वाला चन्द्रमा शोभायमान है, कमलिनी मलिन हो रही है, रजनी के शृङ्गारार्थ मुक्तामाला रूप तारा-गण प्रत्येक दिशा में बहुत धीरे धीरे चल (हिल) रहे हैं। दुर्दैववश वियुक्त, विरहाग्नि से तप्त शरीर, दुःखाक्रान्त ये चक्रवाक पक्षी चन्द्रमा के करों (किरणों हाथों) द्वारा क्लान्त हो रहे हैं ॥ ९ ॥

(पुनर्नेपथ्ये)

ये पूर्वं यवसूचिसूत्रसुहृदो ये कैतकागर्भच्छद-
च्छायासाम्यभृतो मृणाललतिकालावण्यभाजोऽत्र ये ।
ये धाराम्बुविडम्बिनः क्षणमथो ये तारहारश्रिय-
स्तेऽमी स्फाटिकदण्डडम्बरजितो जाताः सुधांशोः कराः ॥ १० ॥

अपि च

सद्यश्चन्दनपङ्कपिच्छिलमिव व्योमाङ्गणं कल्पयन्
पर्यैरावतकान्तदन्तमुसलच्छेदोपमेयाकृतिः ।
उद्गच्छत्ययमच्छमौक्तिकलताप्रालम्बलम्बैः करैः
कान्तानां स्मरलेखवाचनकलाकेलिप्रदीपः शशी ॥ ११ ॥

विदू०—एसा कलभट्टी णाम देवीए णट्टआरिणी, ताए वअणादो सुणिअ चंदोदअहोआवली कप्पूरचंडणामधेयो देवस्स मागधो अहिणंदेदि णिअंकुण्ठोवलच्छि वण्णिदुं, ता मम विच्छुरदि तुंडवंडू अहं पि वण्णिस्सं ससिगोलआहिगलिदो जोण्हापडिआरत्तो समीकुणइ णक्खत्तक्खरवलअं णइ-फलए तिमिर-कज्जलए । (एषा कलकण्ठी नाम देव्या नाट्यकारिणी, तस्या वदनाच्छ्रुत्वा चन्द्रोदयभोगावलिं कर्पूरचण्डनाम-

---

(पुनः नेपथ्य में)

चन्द्रमा की किरणें जो पहिले केतकी के किसलय के समान सौन्दर्य धारण करने लगीं, कुछ ही देर बाद पद्मतन्तु के लावण्य को प्राप्त हो गईं। पुनः जल-प्रवाह की शोभा का अनुकरण करने लगीं। क्षण भर में शोभा मुक्ताहार की-सी हो गईं, अब वे बढ़ते २ स्फटिक मणि से निर्मित दण्ड की शोभा को मात करने लगीं ॥ १० ॥

और भी

तत्काल आकाश मण्डल को चन्दन-पङ्क से चिकना एवं पिच्छल बनाता, पर्यन्त ऐरावत के स्थूल दाँतों के खण्ड सा, प्रेमियों के काम-पत्र को पढ़ने के लिए कामदेव द्वारा अर्पित दीपक-सा चन्द्रमा मोती की लड़ी के समान लम्बी किरणों सहित उदित हो रहा है ॥ ११ ॥

विदूषक—अहा ! कलकण्ठी नामक, महारानी की नाट्यकारिणी के मुख से

श्रेयो देवस्य मागधोऽभिनन्दति मृगाङ्कोद्योतलक्ष्मीं वर्णयितुम् । तस्मान्मम विच्छुरति तुण्डकण्डूः अहमपि वर्णयिष्यामि । शशिगोलकाभिगलितो ज्योत्स्नापरिका रसः समीकुरुते नक्षत्राक्षरवलयं नभःफलके तिमिरकज्जलके ।)

राजा—सखे ! नाद्यापि शैशवोक्तेर्निरिच्यसे ।

विदू०—किं विअ मक्कडो वरिट्ठाणं करणिज्जं पुच्छइ । तरुणुत्तीहिं वण्णइस्सं । (किमिव मर्कटो वरिष्ठानां करणीयं पृच्छति । तरुणोक्तिभिर्वर्णयिष्यामि ।)

अकंकणमकुंडलं धरणिमंडलीभूषणं
अकुंकुममचन्दनं दसदिसावहूमण्डनम् ।
असोसणममोहणं मअरलंछणस्साउहं
मिअंककिरणावली णहत्थलम्मि लक्खीअदि ॥ १२ ॥

(अकङ्कणमकुण्डलं धरणिमण्डलीभूषणं
अकुङ्कुममचन्दनं दशदिशावधूमण्डनम् ।
अशोषणममोहनं मकरलाञ्छनस्यायुधं
मृगाङ्ककिरणावली नभस्तले लक्ष्यते ॥ १२ ॥)

चन्द्रोदय वर्णन सुनकर कर्पूरचण्ड नामक महाराज का मागध चन्द्रोद्योत के वर्णन का अभिनन्दन कर रहा है । इसलिए मेरे मुख में खुजलाहट हो रही है, मैं भी वर्णन करूँगा । चन्द्र-मण्डल से निकली हुई ज्योत्स्ना रूपी गगरी का रस अन्धकार से काले आकाश पट्ट पर नक्षत्रों की वर्णमाला बना रहा है ।

राजा—मित्र ! बचपन में जैसी रचना किया करते थे, उनसे आगे अब भी नहीं बढ़ पाए हो ।

विदूषक—क्या बन्दर बड़ों से, क्या करना है ? यह पूँछता है । अच्छा, युवावस्था की उक्तियों से वर्णन करूँगा ।

बिना कङ्कण और कुण्डल के ही पृथ्वी-मण्डल को सुशोभित बनाने वाली, बिना कुङ्कुम और चन्दन के ही दशो दिशाओं को सजाने वाली, बिना शोषण और मोहन के भी कामदेव की अस्त्र-भूत ये चन्द्र-किरणें आकाश-मण्डल में दिखाई पड़ने लगीं ॥ १२ ॥

राजा—(समन्तादवलोक्य मदनाकूतमभिनीय) भगवन् यामिनीनाथ! दत्तवायं विरुद्धो विधिः ?

मूर्तिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभौ सोदरौ
सौहार्दं कुमुदाकरेषु किरणाः पीयूषधाराकिरः।
स्पर्धा ते वदनाम्बुजैर्मृगदृशां तत् स्थाणुचूडामणे!
हंहो चन्द्र! कथं निषिञ्चसि मयि ज्वालामुचो वेदनाः॥१३॥

(चतुर्दिशमवलोक्य)

चन्द्राविलकैतकोदरदलस्रोतःश्रियं बिभ्रती
येयं मौक्तिकदामगुम्फनविधेर्योग्यास्फुविर्दाराभूत्।
उत्सेक्या कलशीभिरञ्जलिपुटैर्ग्राह्या मृणालाङ्कुरैः
पातव्या च शशिन्यमुग्धविभवे सा चन्द्रिका वर्तते॥१४॥

(विमाव्य) वैमल्यमेव वा शशलक्ष्मणो मादृशजने प्राणसन्देहहेतुः। वैषम्यमेव वा विषं विषयस्य।

राजा—(चारों ओर देखकर, कामावेश प्रकट कर) भगवन् यामिनी-नाथ! तुम्हारा यह कैसा विरुद्ध कार्य है!

क्षीर सागर से आपका जन्म हुआ है, लक्ष्मी और कौस्तुभ तुम्हारे सगे बहिन और भाई हैं, कुमुद-वृन्द से आपकी मैत्री है, किरणें अमृत बरसाने वाली हैं एवं मृगनयनियों के मुख-कमलों से तुम्हारी स्पर्धा है हे शिव जी के चूडामणि चन्द्र! तो फिर क्यों मुझे संतापकारी वेदना देते हो॥ १३॥

(चारों ओर देखकर)

नियम से खिलाये हुए केतक के भीतरी पत्ते के जलप्रवाह की शोभा धारण करती हुई जो चाँदनी शीघ्र ही मोतियों की माला में गूँथने योग्य सुन्दर छवि वाली हो गई थी, वह चाँदनी चन्द्रमा के और अधिक बढ़ जाने पर गगरी से छिड़कने योग्य, अञ्जलिपुटों से ग्रहण करने योग्य और कमल के पत्तों से पीने योग्य हो गई॥ १४॥

(सोचकर) चन्द्रमा की विमलता ही मेरे प्राण-सन्देह का कारण है। विषय की विषमता ही विष है।

(चतुर्दिशमवलोक्य साम्यर्थनम्)

अयि पिबत चकोराः कृत्स्नमुन्नाम्य कण्ठान्
क्रमकवलन चञ्चच्चञ्चवश्चन्द्रिकाम्भः ।
विरहविधुरितानां जीवितत्राणहेतो-
र्भवति हरिणलक्ष्मा येन तेजोदरिद्रः ॥ १५ ॥

(पुरोऽवलोक्य) सैवेयं मृगाङ्कावली

विदू०—भो मिअंकावली च्चेव एसा । ण हु एक्कचन्दस्स एत्तिअमेत्तो कंतिवित्थारो । (भो मृगाङ्कावल्येवैषा । न खल्वेकस्य चन्द्रस्य एतावन्मात्रः कान्ति-विस्तारः ।)

राजा—ततः कदलीलतान्तरिताचेव शृणुवस्तावदस्या विश्रम्भजल्पितानि । आतृप्ति पिबेवां श्रवसी रसायनम् । (तथा कुरुतः ।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा मृगाङ्कावली विचक्षणा च)

मृगाङ्कावली—(अनुध्याननाटितकेन तदेव "चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिखितमि"त्यादि पठति ।)

(चारों ओर देखकर ललकारते हुए)

विरहिजनों के जीवन-रक्षा के हेतु, अरे चकोरो ! तुम कण्ठ को ऊँचा कर, क्रम से निगलने के लिए चोंचों को फैलाकर चन्द्र-किरणों को सम्पूर्णतः पी लो जिससे यह चन्द्रमा तेजहीन हो जाय ॥ १५ ॥

(सामने देखकर) अरे यह तो मृगाङ्कावली आ गई ।

विदूषक—हाँ, यह मृगाङ्क = चन्द्रमा + अवली = पंक्ति, चन्द्रों का समूह) ही है । अकेले एक चन्द्रमा में इतनी चमक नहीं हो सकती ।

राजा—तो कदली कुञ्ज में छिपकर हम तुम इतनी प्रेमविषयक वार्ता सुनें, कर्णरसायन पियें ।

(वैसा करते हैं)

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट मृगाङ्कावली और विचक्षणा रंगमञ्च पर आती हैं)

मृगाङ्कावली—(स्मरण का अभिनय कर) वही 'चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिखितम्' इत्यादि श्लोक पढ़ती है ।

राजा—(सखेदम्) अहो मदनमन्त्राक्षराणि सुभाषितवचनान्यस्याः।

विदू०—अहं उण जाणे णिसिद्धाओ मअणहत्थमल्लीओ। (अहं पुनर्जाने निशिता मदनहस्तभल्लयः।)

राजा—

कण्ठे मौक्तिकमालिकाः स्तनतटे कार्पूरमच्छं रजः
सान्द्रं चन्दनमङ्गके वलयिनाः पाणौ मृणालीलताः।
तन्वी नक्तमियं चकास्ति शुचिनी चीनांशुके बिभ्रती
शीतांशोरधिदेवतेव गलिता व्योमाग्रमारोहतः ॥ १६ ॥

विदू०—भो सच्चं चंदाधिदेवतेव्व सा गलिदा। जदो लंछणच्छलेण भअलंछणस्स इमाए अइरपरिच्चत्तमिणालदलमलिणं व मंडलमज्झं णिज्झाअदि। (भोः सत्य चन्द्राधिदेवतेव सा गलिता। यतो लाञ्छनच्छलेन मृगलाञ्छनस्य अनया अचिरपरित्यक्तं मृणालदलमलिनमिव मण्डलमध्यं निध्यायते।)

राजा—सखे! मासलेऽपि चन्द्रिकाद्योते व्यतिरिच्यत एवास्याः स्मरजन्मा पाण्डिमा। विभाव्यत एव वा शङ्खशुक्तियुक्ताऽपि मुक्तावली।

राजा—(खेदपूर्वक) इसके सुभाषित वचन काममन्त्र हैं।

विदूषक—मैं तो समझता हूँ कि कामदेव के हाथ के चोखे किए गए भाले हैं।

राजा—कण्ठ में मोतियों की मालायें, स्तनों के चारों ओर किनारे किनारे कपूर का उज्ज्वल लेप, शरीर पर चन्दन का गाढ़ा लेप, दोनों हाथों में लिये हुई कमल लता, उत्तम रेशमी वस्त्रों को धारण किए हुए यह सुन्दरी, रात में, नभो-मण्डल में ऊपर चढ़ते हुए चन्द्रमा से निकली अधिष्ठात्री देवी सी चमक रही है ॥ १६ ॥

विदूषक—हाँ, सचमुच चन्द्रमण्डल से पृथक् हुई यह अधिदेवता ही है क्योंकि इसके द्वारा परित्यक्त चन्द्रमण्डल का मध्य भाग कमलदल सा मलिन, कलङ्क के रूप में दिखाई दे रहा है।

राजा—मित्र! चन्द्रिका के इन स्पष्ट प्रकाश में भी काम-जन्य इसका पीलापन स्पष्ट भिन्न दिखाई दे रहा है। शंख की सीपियों से युक्त मुक्तावली पहचान ली जाती है—उसकी कान्ति अलग प्रकट रहती है।

तथा हि—

नखदलितहरिद्राग्रन्थिगौरे शरीरे
स्फुरितविरहजन्मा कोऽप्ययं पाण्डुभावः।
वलवति सति यस्मिन् सार्धमावर्त्य हेम्ना
रजतमिव कृशाङ्ग्याः कल्पितान्यङ्गकानि ॥ १७ ॥

विदू०—पारअरसचुंबिअं विअ सुवण्णं से लावण्णं। कमकंतगोरत्तणेग आकिट्टं विअ अंगं आपांडुभावेण। (पारदरसचुम्बितमिव सुवर्णमस्या लावण्यम्। क्रमकान्तगौरत्वेन आकृष्टमिवाङ्गमापाण्डुभावेन।)

मृगाङ्कावली—हंहो हिअअ, णअणेहिं दिट्ठो सो, तुमं उत्तम्मसि त्ति अच्चरिअं। मूले वउलयट्ठीए सुरागंडूससेओ कुसुमेसु मइरागंधुग्गारो त्ति। (हंहो हृदय, नयनाभ्यां दृष्टः सः, त्वम् उत्ताम्यसीत्याश्चर्यम्। मूले वकुलयष्ट्याः सुरागण्डूषसेकः, कुसुमेषु मदिरागन्धोद्गार इति।)

विदू०—किं वा कारणम्?

राजा—(सकरुणम्) इदं हि कारणं, बलवाननङ्गोऽस्याम्। इयं हि स्वेन हृदयेन कलहायते।

जैसे—नखों से काटी हुई हल्दी की गाँठ के समान गोरे शरीर पर विरहजन्य पीतिमा का रंग प्रकर्ष को प्राप्त हो रहा है। मानो इस सुन्दरी के अङ्ग, सोने के साथ चाँदी को मथकर—एक में मिलाकर—(उसके) मिश्रण से रचे गए हैं ॥ १७ ॥

विदूषक—इसका सौन्दर्य पारा-रस-मिश्रित सुवर्ण सा है। सुन्दर और गौर होने से अल्प पीलेपन ने इसके अङ्ग को आकृष्ट सा कर लिया है।

मृगाङ्कावली—अरे हृदय! उसे देखा तो नेत्रों ने और विकल्प हो रहे हो तुम—यह आश्चर्य है। शराब से तो सींचा जाय मौलसिरी का मूल और मदिरा की उग्र गन्ध आये फूलों में।

विदूषक—क्या बात है?

राजा—(करुणापूर्वक) बात यह है—इसमें काम प्रबल हो रहा है। यह अपने हृदय से ही कलह कर रही है।

मृगाङ्कावली—अइ कप्पूरलदाआसिसिरविज्जाहरमल्ल ! तुमं पि दिस ? कहिं मे णिव्वुदि । जइ चन्दमणी हुअवहं णीसंदअदि को एत्थ पडीआरो । (अयि, कर्पूरलताकाशशिशिरविद्याधरमल्ल ! त्वमपि ददासि ! क्व मे निर्वृतिः ! यदि चन्द्रमणिर्हुतवहं निष्यन्दयते, कोऽत्र प्रतीकारः ।)

राजा—नमो महं मृगाङ्कावलीचातुरोपालम्भपात्रीकृताय ।

मृगाङ्कावली—सहि ! सामण्णकुसुमबाणो भविअ मअणो एआरिसं करेदि ? ता बहूसो विसेसकुसुममआ बाणा। (सखि ! सामान्यकुसुमबाणो भूत्वा मदनः कथमेतादृशं करोति ? तस्माद्बहवोऽस्य विशेषकुसुममया बाणाः ।)

राजा—सलिलमय्यपि दहति हिमानी । कुसुममय्यपि स्वभाववामा मदनहस्तपञ्चशरी ।

विदू०—भो पिअवअस्स, वरिसारत्तिसक्करपुत्तलिआ विअ खणेखणे ओज्झरन्ती कं ण दुण्णेदि, किं उण मिलाणमरुवककन्दलीव सुअंधाणविरहपरिक्खामा चि इयं रमणिआ । किं अ कोरण्टकुसुममालामिलाअमाणा सुट्ठु वत्थु रत्तत्तणं दंसेदि । (भोः प्रियवयस्य, वर्षारात्रिशर्करापुत्तलिकेव क्षणे क्षणे अपचीयमाना कं न दुनोति । किं पुनर्म्लानमरुवककन्दलीव सुगन्धिः विरह-

मृगाङ्कावली—हे कर्पूर की शलाका की भाँति शीतल विद्याधरमल्ल ! तुम भी संताप (दुःख, ताप) दे रहे हो तो मुझे कहाँ चैन मिलेगा ! यदि चन्द्रमा ही अग्नि बरसाने लगा तो फिर इसका क्या इलाज ।

राजा—मृगाङ्कावली के चातुर्यपूर्ण उपालम्भ के पात्र मुझे नमस्कार है। (मैं धन्य हो गया ।)

मृगाङ्कावली—सखि ! यदि कामदेव के बाण साधारण फूलों के हैं, तो फिर वह इतना दुःसह दुःख क्यों देता है ? अवश्य इसके बाण विशेष प्रकार के फूलों के हैं।

राजा—जल से बना वर्फ जलाता है। कामदेव के हाथ में फूलों के बने बाण स्वभाव से प्रतिकूल होते हैं अर्थात् कठोर होते हैं।

विदूषक—प्रिय मित्र ! ओले की भाँति प्रतिक्षण घटती हुई वर्षा की रात किसको पीड़ित नहीं करती ? मरुवक (दौना) की नई कोंपल मुरझाते हुए भी

परिक्षामाऽपीयं रमणीया। किं च कोरण्डकुसुममाला म्लायन्ती सुष्टु खलु रक्तत्वं दर्शयति।)

मृगाङ्कावली—किं करेदि सहि! दुब्भेज्जा प्पेमदुद्दोली। (सखेदम्) सहि! णिरणुक्कोसो क्खु सो, विरलो वा परदुक्खदुक्खिदो जणो, त्थोआ वा पंचमहुंकारोम्मुक्ककुसुमुप्पीडविडविणो। (सप्रश्रयम्) अयि तुहिअणेक्कधाणुक्क मम्मह! मिअंकचूडामणिपरिक्खिदतिक्खत्तणेहिं सरेहिं महिलाअणं पहरन्तो ण लज्जसि? जाणामि जदि तस्सिं पि अणे एव्वं एव्व आरभडोपचंडो होसि। (किं करोमि सखि, दुर्भेद्या प्रेमदुर्दोली। सखि! निरनुक्रोशः खलु सः विरलो वा परदुःखदुःखितो जनः, स्तोका वा पञ्चमहुङ्कारोन्मुक्तकुसुमोत्पीडविटपिनः। अयि त्रिभुवनैकधानुष्क, मन्मथ, मृगाङ्कचूडामणिपरीक्षिततीक्ष्णत्वैः शरैर्महिलाजनं प्रहरन् लज्जसे। जानामि यदि तस्मिन्नपि जन एवमेवारभटीप्रचण्डो भवसि।)

राजा—सुतनु, सुतरामारभटीप्रपञ्चः।

विदू०—(उच्चैर्हसित्वा) अणंगस्स आरभडित्ति महाहासकरं मे। (अनङ्गस्यारभटीतिमहाहासकरं मे।)

सुगन्धित रहती है और कोरण्ड का कुसुममाला मुरझायी हुई भी अपनी लाली प्रकट करती है।

मृगाङ्कावली—क्या करूँ सखि! प्रेम की दुर्दोली दुर्भेद्य होती है। (सखेद) सखि! वे बहुत ही निष्करुण हैं। दूसरे के दुःख से दुःखी होने वाला कोई विरला ही होता है। ऐसे वृक्ष थोड़े ही होते हैं जिनके पुष्प कोयल द्वारा दलित होने से बच जाँय। त्रिभुवन में सबसे बड़े धनुर्धारी कामदेव! अपने बाणों की तीक्ष्णता को आजमाइश शंकर जी पर तो कर ही चुके थे, अब ऐसे तीखे बाणों का प्रहार एक अबला पर करते हुए तुम्हें लज्जा नहीं आती! तुझे समझूँ तब, जब इसी प्रकार साहस और बहादुरी से उस (विद्याधरमल्ल) पर भी प्रचण्ड होवे।

राजा—सुन्दरि! (कामदेव के) अत्यधिक साहस हैं।

विदूषक—(जोर से हँसकर) अनङ्ग (जिसके शरीर ही नहीं) का साहस! इस पर मुझे बड़ी हँसी आती है।

राजा—किमिदं यदुच्चैर्हसंसि, नैवं त्रासय ।

मृगाङ्कावली—विअक्खणे ! जणसञ्चारो विअ । ता कदलीथंभन्तरिदे भविअ जाणीमो किं एदं त्ति । [तथा कुरुतः] (विचक्षणे ! जनसञ्चार इव, तस्मात् कदलीस्तम्भान्तरिते भूत्वा जानीवः किमेतदिति ।)

विदू०—एहि पविसह्य [इति परिक्रामितकेन] (एहि प्रविशावः ।)

राजा—(शिशिरोपचारसामग्रीमालोक्य नाट्येनादाय च)

मृणालमेतद्वलयीकृतं तया तदीय एकोऽप्ययमवतंसपल्लवः ।
इदं च तस्याः कदलीदलांशुकं यदत्र संक्रान्त इव स्मरज्वरः ॥ १८ ॥

तदनया तदुपभुक्तमुक्तया शीतवर्गसामग्रयात्मानं निर्वापयामि ।

(तथा करोत्युपविशति च । विदूषकोऽपि यथोचितमुपविशति ।)

राजा—(संतापमभिनीय) अहह अपर्यालोचितमाचरितम् । यतः—

राजा—यह क्या, जोर से हँसते हो, इस प्रकार उसे डराओ मत ।

मृगाङ्कावली—विचक्षणे ! यहाँ मनुष्य की आहट मालूम होती है । तो केले के खम्भे की आड़ में छिपकर ज्ञात करें—क्या बात है । (दोनों वैसा करती हैं)

विदूषक—आओ अन्दर घुसें । (दोनों घूमते हैं ।)

राजा—(शीतलता प्रदान करने वाली सामग्रियों को देखकर अभिनयपूर्वक लेकर)

यह कमल-नाल है जिसे उसने लपेटा था, यह पल्लव है जिसका उसने कर्णभूषण बनाया था । यह कदली-पत्र का (सबसे नीचे पहना गया) वस्त्र है जो गर्म है, इसलिए मालूम होता है उस सुन्दरी का कामज्वर अङ्ग-स्पर्श से इसमें सङ्क्रान्त हो गया है ॥ १८ ॥

तो उसके द्वारा उपयोग करके छोड़ी हुई शीतलता प्रदान करने वाली सामग्री से अपने को पुरस्कृत करूँ—मैं इसे उपयोग में लाऊँ । (वैसा करता है और बैठता है, विदूषक भी उचित स्थान पर बैठ जाता है)

राजा—(संताप का अभिनय कर) अहह ! मैंने बिना सोचे-समझे शीतल सामग्रियों को धारण किया । क्योंकि—

शीतांशुर्विषसोदरः फणभृतां लालास्पदं चन्दनं
हारः क्षारपयोभवः प्रियसुहृत् पङ्केरुहं भास्वतः ।
इत्येषां किमिवास्तु वस्तु मदनज्योतिर्विघाताय यद्
बाह्याकारपरिग्रहेण तु वयं तत्त्वत्यजो वञ्चिताः ॥ १९ ॥

विचक्षणा—सहि मिअंकावलि ! फलिदं मे दूइत्तणेण । जं महाराओ वि एआरिसं अवत्थन्तरं उव्वहदि । (सखि मृगाङ्कावलि ! फलितं मे दूतीत्वेन यन्महाराजोऽपि एतादृशमवस्थान्तरमुद्वहति ।)

राजा—(सन्तापमभिनीय)

व्यजनमरुतः श्वासश्रेणीमिमामुपचिन्वते
मलयजरजो धारावाष्पं प्रपञ्चयितुं प्रभुः ।
कुसुमशयनं कामास्त्राणां करोति सहायतां
द्विगुणगरिमा मारोन्माथः कथं नु विरंस्यति ॥ २० ॥

विदू०—अए, मुद्दासणाहो लेहो विअ । (अए, मुद्रासनाथो लेख इव ।)

राजा—न केवलं लेखः, स्मरसन्धिविग्रहसम्बन्धश्च । तथाहि पश्य–

चन्द्रमा तो विष का सहोदर है, चन्दन सर्पों के लार (थूक) का आवास स्थान है, (मोतियों का) हार खारे जल से उत्पन्न हुआ है, कमल सूर्यका मित्र है, (तो फिर ये सब संताप-नाश कैसे करें) । हम मदन-सताप को नष्ट करने के लिए इन्हें धारण कर वास्तव में तत्त्व से अनभिज्ञ धोखा खा गये॥१९॥

विचक्षणा—सखि ! मृगाङ्कावलि ! मेरा दूती-कार्य सफल हो गया, महाराज भी ऐसी अवस्था को प्राप्त हो रहे हैं ।

राजा—(सन्ताप का अभिनय कर) पंखे की वायु श्वासों को और बढ़ाती है, चन्दन का लेप आँसुओं की ओर वृद्धि करता है । फूलों की शय्या कामदेव के अस्त्रों की सहायता करती है । इस प्रकार तो काम-पीडा दूनी होती जा रही है, वह शान्त क्यों कर होगी ॥ २० ॥

विदूषक—अरे ! मुहर लगा हुआ लेख सा (यहाँ) है ।

राजा—केवल लेख ही नहीं, कामदेव के सन्धि-विग्रहका सम्बन्ध है । देखो—

तालीदलं यदकठोरतरं यदत्र
मुद्रास्तनाङ्कघनचन्दनपङ्कमूर्तिः ।
यद् बन्धनं बिसलतातनुतन्तुभिश्च
कस्याश्चिदेष गलितस्तदनङ्गलेखः ॥ २१ ॥

विदू०—ता एव्वं एसो, सण्णिहिदपरिच्चाए कारणं भणिदव्वं ।
(तस्मादेवमेष, सन्निहितपरित्यागे कारणं भणितव्यं ।)

राजा—(विदूषकं कण्ठेऽवपार्य) विदूरवसुधैव रत्नशलाकाभूः भवद्वचोयुक्तिरेव रसनिष्यन्दभूमिः, तदुपरि नाम दर्शय ।

(विदूषकः तथा करोति ।)

राजा—(वाचयति) निष्कृपस्य, वराक्याः ।

विदू०—उम्मुद्दिअ दंसइस्सं । (तथा कृत्वा) भो, अरअणं रअणकरंडअं, अणक्खरो लेहो । (उन्मुद्र्य दर्शयिष्यामि । भो, अरत्नं रत्नकरण्डकम्, अनक्षरो लेखः ।)

राजा—कामं करुणगम्भीरः प्रयोगः कल्लोलयति मानसम् ।

यह अत्यन्त कोमल ताली-पत्र है, स्तनों में लगे चन्दनरस की इस पर मुद्रा (मुहर) लगी है । यह कोमल कमल-तन्तुओं से बँधा है । इससे स्पष्ट है कि यह किसी (नायिका) का काम-पत्र गिर गया है ॥ २१ ॥

विदूषक—हाँ है तो ऐसा ही, यहीं समीप में ही इसके गिराने का कारण कहिए ।

राजा—(विदूषक के गले में बाँह डालकर) विदूर (पर्वत) की भूमि में ही रत्न पैदा होता है, तुम्हारी बातों से ही रस-धारा प्रवाहित होती है । तो ऊपर नाम (पता) तो दिखाओ ।

(विदूषक वैसा करता है)

राजा—बाँचता है—अभागिनी के उस निष्ठुर को—

विदूषक—खोलकर दिखाऊँ (वैसा करके) अरे ! रत्नों की सन्दूकची रत्नशून्य है । पत्र, बिना अक्षरों का है ।

राजा—यह करुण और गम्भीर प्रयोग हृदय को अत्यन्त तरंगित कर

(विचिन्त्य) अये, तालीदलसंपुटम् अन्विष्य, किञ्चिन्मन्त्रगुप्तये, तत्र शङ्कमानया सूचितं स्यात्।

विदू०—(तथा कृत्वाऽवलोक्य सदर्पम्) अहो दे बुद्धिविहवो। किं मगं मिअङ्कलंछणस्स रोहिणीवल्लहोत्ति। (अहो ते बुद्धिविभवः। किंवर्णनं लाञ्छनस्य रोहिणीवल्लभ इति।)

राजा—विसंष्टुलं वाचयति—

विवत्ते सोल्लेखं कतरदिह नाङ्गं तरुणिमा
तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे।
यदादत्ते हृदयादखिलमपि भावव्यतिकरम्

(विचिन्त्य)

पाणिप्रेङ्खणतो विशीर्णशिरसः स्वेदाम्बुरुग्णश्रिय-
स्ता इत्याकृतिलेशतो मनसि नः किञ्चित्प्रतीतिं गताः।

रहा है। (सोचकर) अये! ताल-पत्र का सम्पुट (लिफाफा) तो खोजो। सम्भव है उसमें शंकालु हृदय वाली के द्वारा कोई रहस्य सूचित किया गया हो।

विदूषक—(वैसा करके, देखकर सदर्प) अहो! तुम्हारी बुद्धि कैसी विलक्षण है। मृगलाञ्छन (चन्द्रमा) का क्या वर्णन—वह तो रोहिणीवल्लभ है।

राजा—(चंचलतापूर्वक पढ़ता है)

यौवन किस अङ्ग को विशेष सुन्दर नहीं कर देता अर्थात् सभी अंगों को सुन्दर कर देता है। तथापि यौवन नेत्रों में एक विशेष प्रकार का नैपुण्य एवं प्रगल्भता उत्पन्न कर देता है। इसी से वे किसी को केवल देखकर ही उसके हृद्गत समस्त भावों को जान लेते हैं।

(सोचकर)

लेख की अक्षर-पंक्तियों का शिरो-भाग हाथ काँपने के कारण विशीर्ण हो गया है—बिगड़ गया है, पसीने की बूँदों से उनका सौन्दर्य नष्ट हो गया है—इस प्रकार अक्षरों का आकार बिगड़ जाने से वे लेशमात्र कुछ ही प्रतीत होते

वैचित्त्यात् पुनरुक्तलाञ्छनभृतः कण्ठ्येन वाच्येन वा ।
व्याक्षेपं कथयन्ति पक्ष्मलदृशो लेखाक्षरश्रेणयः ॥ २२ ॥

विदू०—किं उव्वेलदि केलिकदलीए करिशुण्डादंडावेढो ? ता एहि अणुसरह्म । (किमुद्वेल्लति केलिकदल्यां करिशुण्डादण्डावेष्टः । तस्मादेहि अनुसरावः ।)

राजा—इदमुभयमनन्यगामि, यन्मृगाङ्कानुवर्तनं रत्नाकरस्य, मम हृदयानुवर्तनं च भवतः ।

विदू०—(अङ्गुल्या निर्दिशन्) इदो माधवीलदामण्डवं गदा । जदो मअरद्धअपसिद्धि व्व पअपंतिओली दीसदि । ता णिवुणं अग्गदो भविअ णिरूवह्म । (इतो माधवीलतामण्डपं गता । यतो मकरध्वजप्रसिद्धिरिव पदपंक्तिर्दृश्यते । तस्मान्निपुणमग्रतो भूत्वा निरूपयावः ।)

(तथा कुरुतः)

मृगाङ्कावली—(लतान्तरे चन्द्रिकास्पर्शमभिनीय संस्कृतमाश्रित्य)

है । अन्यमनस्कता के कारण उनमें पुनरुक्त दोष भी है । लेख की ये अक्षर पंक्तियाँ इस प्रकार उस पक्ष्मल (सुन्दर बरौनी वाले) नेत्रोंवाली सुन्दरी के व्याक्षेप को स्पष्टरूपेण बतला रही हैं ॥ २२ ॥

विदूषक—क्या केलि-कदली में हाथी के शुण्ड-दण्ड की भाँति आकुञ्चन लक्षित हो रहा है ? तो आओ ! पीछा करें ।

राजा—ये दो अन्यगामी नहीं—समुद्र चन्द्रमा का और आप मेरे हृदय का अनुवर्तन करते हैं ।

विदूषक—(अँगुली से निर्देश करता हुआ) इधर से माधवीलता के मण्डप में गई है क्योंकि कामदेव की प्रसिद्धि सी पद-पंक्ति दिखाई पड रही है । तो आगे होकर भली भाँति निरूपण करें ।

(दोनों वैसा करते हैं)

मृगाङ्कावली—(लता की आड़ में चाँदनी के स्पर्श का अभिनय कर) संस्कृत में—

प्रियविरहमहोष्मामर्मरामङ्गरेखा-
मयि हतक हिमांशो ! मा स्पृश क्रीडयाऽपि ।
इह हि तव लुठन्तः प्लोषपीडां भजन्ते
दरजरठमृणालीकाण्डमुग्धा मयूखाः ॥ २३ ॥
(इति द्विस्त्रिरभिधाय रोदिति ।)

राजा—(विदूषकं प्रति) सखे कारय चक्षुषी पारणाम् । यतः—

अन्तस्तारातरलितजलाः स्तोकमुत्पीडभाजः
पक्ष्माग्रेषु प्रसृतपृषतः कीर्णधाराः क्रमेण ।
चित्तावङ्कं निजगरिमतः सम्यगासूत्रयन्तो
निर्यान्त्यस्याः कुवलयदृशो बाष्पवारां प्रवाहाः ॥ २४ ॥

अपि च—

मुक्त्वाऽनङ्गः कुसुमविशिखान् पञ्चकूणीकृताग्रान्
मन्ये मुग्धां प्रहरति हठात्पत्रिणा वारुणेन ।

रे अधम चन्द्र ! प्रिय की विरहाग्नि से सन्तप्त मेरे दुर्बल शरीर का स्पर्श विनोदार्थ भी मत कर । किञ्चित् पके हुए कमलिनी-दण्ड के समान (गौर एवं शीतल) तेरी किरणें मेरे शरीर पर पड़कर उष्णता को प्राप्त हो रही हैं ॥ २३ ॥

(ऐसा दो-तीन बार कहकर रोती है)

राजा—(विदूषक से मित्र ! नेत्रों को पारण कराओ—इनकी रूप-दर्शन की पिपासा शान्त करो क्योंकि—

नील-कमल के समान नेत्रों वाली इस सुन्दरी के आँसू पहले पुतलियों से तरल-भाव को प्राप्त हुए, क्रमशः थोड़ा सा दबाव पड़ने से बरौनियों के अग्र-भाग पर बूँदों के रूप में फैल गए । तदनन्तर परस्पर गुँथ कर एक धारा में परिवर्तित हो गए और अब अपनी गुरुता से (सुन्दरी की) आन्तरिक पीड़ा को सम्यक् प्रकार से प्रकट करते हुए प्रवाह के रूप में बाहर निकल रहे हैं ॥ २४ ॥

और भी—

मालूम होता है कामदेव अपने तरकस में रक्खे हुए पाँचों कुसुम-शरों को त्याग कर इस बेचारी भोली-भाली अबला पर वरुणास्त्र से प्रहार कर रहा

वारां पूराः कथमितरथा स्फारनेत्रप्रणाली
वक्त्रोद्भ्रान्तस्त्रिवलिविपिने सारिणीसाम्यमेति ॥ २५ ॥
(विदूषकं हस्ते गृहीत्वोपसृत्य सानुरागप्रश्रयम्)
यस्य कृते वहसि रुजा मृदितमृणालानि गात्राणि ।
यस्य कृते सोऽपि तथा तदखण्डितशासनो मदनः ॥ २६ ॥

मृगाङ्कावली—(सप्रणयं ससाध्वसञ्च तमवलोक्य)

किं एसो अणंगो ? परपुरिसो, असिप्पिसंपुडा या मोत्तिअ उप्पत्ति । किं च चूदलट्ठिअ व्व सहआरीभूता, राहि व्व कण्णआत्तणं उपगदा एदस्स दंसणेण महग्घीकिदा मे तणु पडिभादि । (तं प्रति) सहि, एसो सो राआ विज्जाहरमल्लो जो सिरिसरस्सइणं पल्लहो मअणसुन्दरीए अ । जस्स वल्लहाओ सिरीसरस्सइमअणसुन्दरिओ । (किमेषोऽनङ्गः, परपुरुषः, अशुक्तिसम्पुटा वा मौक्तिकोत्पत्तिः । किञ्च, चूतयष्टिरिव सहकारीभूता, राशिरिव कन्यकात्वमुपगता, एतस्य दर्शनेन महार्घीकृता मे तनुः प्रतिभाति । सखि, एष स राजा विद्याधरमल्लः, यः श्रीसरस्वत्योर्वल्लभो मदनसुन्दर्याश्च । यस्य वल्लभाः श्रीसरस्वतीमदनसुन्दर्यः ।)

है, नहीं तो और कैसे दीर्घ नेत्रों से प्रवाहित यह अश्रु-प्रवाह क्रमशः मुख पर से बहता हुआ अन्त में त्रिवली के विपिन में पहुँचकर लघु नदी की समता प्राप्त कर रहा है ॥ २५ ॥

(विदूषक का हाथ पकड़कर, निकट जाकर सानुराग एवं नम्रतापूर्वक)

जिसके लिए मनस्ताप से तुम अपने शरीर को मसले हुए कमल सा कर रही हो, यह भी उसी अवस्था को प्राप्त हो रहा है । कामदेव का शासन खण्डित नहीं होता—उसका प्रभाव दोनों तरफ बराबर ही पड़ता है ॥ २६ ॥

मृगाङ्कावली—(प्रीति तथा भय के साथ उसे देख कर)

क्या यह पर पुरुष कामदेव तो नहीं है ! बिना सीपी के मोतियों की उत्पत्ति । मंजरियों से सुगन्धित एवं शोभित आम की टहनी सी, कन्या भाव को प्राप्त (कन्या) राशि सी मेरी शरीर-यष्टि को इस (विद्याधरमल्ल) के दर्शन ने बहुमूल्य बना दिया—ऐसा प्रतीत होता है । सखि ! क्या ये राजा विद्याधरमल्ल हैं, जो लक्ष्मी, सरस्वती और रति के वल्लभ हैं और लक्ष्मी, सरस्वती तथा रति जिनकी वल्लभा हैं ।

विचक्षणा—ओम् ।

राजा—विचक्षणे, नन्वेवं वक्तव्यं भवति, यो मृगाङ्कावली-वल्लभो यस्य मृगाङ्कावलीवल्लभेति । (तां प्रत्यञ्जलिं बद्ध्वा)

तरङ्गसदृशोऽङ्गने पततु चित्रमिन्दीवरं
स्फुटीकुरु रदच्छदं भजतु विद्रुमः श्वेतताम् ।
क्षणं वपुरपावृणु स्पृशतु काञ्चनं कालिका-
मुदञ्चय मुखं मनाग्भवतु च द्विचन्द्रं नभः ॥ २७ ॥

मृगाङ्कावली—(स्वगतम्) भअवदि मअंकमंडणे जामिणि ! सजामा होहि । (भगवति मृगाङ्कमण्डने यामिनि ! सयामा भव ।)

राजा—सखे ! न हारविरहमर्हत्येषा । न चित्रशिखण्डिदाम्ना विना चकास्त्युदीचो ।

(इति कण्ठादवतार्य नायिकाकण्ठे हारं विधत्ते ।

विचक्षणा—हाँ ।

राजा—विचक्षणे ! ऐसा कहना चाहिए—जो मृगांकावली का वल्लभ है और मृगांकावली जिसकी वल्लभा है । (उससे हाथ जोड़कर)

हे सुन्दरी ! (जरा दृष्टि-पात तो करो) तुम्हारी दृष्टि की तरंग भूमि में नील-कमल का अधःपात हो । ओठ तो खोलो, ताकि (उसकी लाली के सामने) मूँगा सफेद सा लगे । जरा शरीर पर से वस्त्र हटा दो, ताकि (उसके गौर वर्ण के सामने) सुवर्ण भी काला लगे ! जरा मुख ऊपर तो करो ताकि आकाश दो चन्द्रमा वाला हो जाय ॥ २७ ॥

मृगाङ्कावली—(स्वगत) हे भगवती चन्द्रशोभने रात्रि देवि ! तुम और लम्बी हो जाओ ।

राजा—सखे ! यह सुन्दरी हार से विरहित होने योग्य नहीं है । उत्तर दिशा सप्तर्षिमण्डल के बिना शोभित नहीं लगती ।

(ऐसा कहकर कण्ठ प्रदेश से उतार कर हार नायिका के कण्ठ प्रदेश में डाल देता है ।)

विदू०—उचिदसमागमो क्खु एसो कण्ठं रञ्जेदि । जं दाणीं णित्तलमुत्ताहलमालालङ्करणो सुन्दरीअणो वक्कोत्तिविभूसणो विअ सुकइवाणीवन्धो । (उचितसमागमः खल्वेप कण्ठं रञ्जयति । यदिदानीं निस्तलमुक्ताफलमालालंकरणः सुन्दरीजनो वक्रोक्तिविभूपण इव सुकविवाणीबन्धः ।)

(नेपथ्ये)

चालिज्जंतु लदामंडवपहुदीणी विलासट्टाणाइं, ताणिज्जन्तु कडक्खिआदुआराइं, णिविद्धज्जन्तु अग्गलाओ, चिट्ठन्तु जहाणिअट्ठाणं वाहिरदो जामइल्ला सोविदल्ला । एसा वारविलासिणीजणगहिदहत्थवि- त्थारिजणविणोदिअदिवसा सिद्धणरेंददिण्णोसधविजिंभिअ मंजिट्ठत्थवअसदसहस्सालंकिदं माहवीमंडवं दट्ठुम इच्छइ देवी । (शोध्यन्ताम् लतामण्डपप्रभृतीनि विलासस्थानानि, संह्रियन्तां गवाक्षद्वाराणि, निबध्यन्ताम् अर्गलानि, तिष्ठन्तु यथानिजस्थानं बहिर्यामवन्तः सौविदल्लाः । एपा वारविलासिनीजनगृहीतहस्तविस्तारिजनविनोदितदिवसा सिद्धनरेन्द्रदत्तौपधिविजृम्भितमाञ्जिष्ठस्तबकशतसहस्रालङ्कृतं माधवीमण्डपं द्रष्टुमिच्छति देवी ।)

विचक्षणा—(सत्रासम्) भट्टा विसज्जीअदु प्पिअसही । (भर्तः, विसृज्यतां प्रियसखी ।)

विदूषक—यह उचित समागम कण्ठ को सुशोभित कर रहा है। चञ्चल मुक्ताहार ही स्त्रियों का अलङ्कार है। सुकविजन के काव्य का विभूषण वक्रोक्ति है।

(नेपथ्य में)

लता-मण्डप आदि विलास-स्थानों को शुद्ध, स्वच्छ एवं ठीक कर लो। झरोखों के द्वार बन्द कर दो, सिटकनी लगा दो। अन्तःपुर के सेवक, जो पहरे पर हों, बाहर अपने अपने उचित स्थान पर खड़े रहें। सखियों के साथ दिन व्यतीत कर महारानी जी, जिसका हाथ वारवनिताएँ पकड़े हुए हैं— सिद्ध वैद्यों की दी गई ओषधि से उत्पन्न मजीठ रंग के लाल सैकड़ों सहस्रों पुष्पों के गुच्छों से अलंकृत माधवीमण्डप को देखना चाहती हैं।

विचक्षणा—(भय के साथ) स्वामिन्! प्रिय सखी को जाने दीजिए।

राजा—अभ्यर्थये हृदयं यदि प्रार्थनाभङ्गं न करोति ।

विदू०—तुरिदं विसज्जीअदु, अण्णधा सउन्ता विअ पञ्जरणिबद्धा भविस्सामो । (त्वरितं विसृज्यतां, अन्यथा शकुन्ता इव पञ्जरनिबद्धा भविष्यामः ।)

(इति यथायथं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति विद्धशालभञ्जिकायां तृतीयोऽङ्कः

•

राजा—हृदय से प्रर्थना कर रहा हूँ, यदि वह प्रार्थना भङ्ग न करें ।

विदूषक—शीघ्र जाने दीजिए, नहीं तो हम लोग पक्षी की भाँति पिंजड़े में बँध जाँयगे ।

(सब क्रमशः घूमकर निकल गए)

इति तृतीय अङ्क समाप्त ।

अथ चतुर्थोऽङ्कः

(नेपथ्ये)

सुप्रभातं देवस्य केयूरवर्षस्य । सम्प्रति हि—

व्रजत्यपरवारिधिं रजतपिण्डपाण्डुः शशी
नमन्ति जलबुद्बुदद्युतिसपङ्क्तयस्तारकाः ।
कुरण्टकविपाण्डुरं दधति धाम दीपाङ्कुरा-
श्चकोरनयनारुणा भवति दिक् च सौत्रामणी ॥ १ ॥

(ततः प्रविशति विदूषकः सुप्ता ब्राह्मणी च)

विदूषकः—भो पुक्खरमाले उट्ठेहि संज्झां वन्दिदुं । अदिक्कन्ता रअणी । सुण णरेन्द्रवन्दिणो कप्पूरचंडस्स पभादभोआवलिं । (विमृश्य) कहं देवी गरिट्ठगोट्ठीजणिदजागरणकिलन्ता सुत्ता बह्मणी ? अज्जवि ण णिद्दं मुंचेदि । ता पडिवालेमि । जदो सुत्तो ण पडिबोधिदव्व त्ति बह्मणा भणंति । (भोः पुष्करमाले, उत्तिष्ठ संध्यां वंदितुम् । अतिक्रान्ता रजनी, शृणु नरेन्द्रबन्दिनः कर्पूरचण्डस्य भोगावलीन् । कथं देवीगरिष्ठगोष्ठीजनितजागरणक्लान्ता सुप्ता ब्राह्मणी अद्यापि न निद्रां मुञ्चति । तस्मात् प्रतिपालयामि । यतः सुप्तो न प्रतिबोधितव्य इति ब्राह्मणा भणन्ति ।)

(नेपथ्य में)

देव केयूरवर्ष को प्रभात सुन्दर हो । इस समय—चाँदी के गोले के समान गौरवर्ण चन्द्रमा पश्चिम समुद्र को जा रहा है, पंक्तिबद्ध तारा-गण पानी के बुल्बुले की भाँति झुक रहे हैं—अस्त को प्राप्त हो रहे हैं । घरों के दीपक की लौ कुरंटपुष्प की भाँति विशेष उज्ज्वल हो रही है एवं पूर्वदिशा चकोरों के नेत्रों की भाँति लाल हो रही है ॥ १ ॥

(इसके बाद विदूषक प्रवेश करता है और ब्राह्मणी सोई हुई है)

विदूषक—अरे पुष्करमाले ! सन्ध्या-वन्दन के लिए उठो । रात बीत गई । राजा के बन्दी कर्पूरचण्ड का प्रभात-वर्णन सुनो । अरे क्यों ! महारानी की गोष्ठी में जागने से थकी-माँदी सोई हुई ब्राह्मणी अभी नहीं निद्रा त्याग रही है । 'तो ठहर जाऊँ' प्रतीक्षा करूँ क्यों कि सोये व्यक्ति को नहीं जगाना चाहिए—ऐसा ब्राह्मण कहते हैं ।

ब्राह्मणी—(उत्स्वप्नायमाना) विण्णत्तो विअक्खणामुहेण देवीए भट्टा । जह ओअल्लागदस्स मिअङ्कवम्मस्स वहिणी मिअङ्कावली णामसिणिद्धेण भादुअं दट्ठुं आअदा । सन्दिट्ठम्मि मादुलचंदवम्मणा मादुलाणीए हारलदाए अ । जधा, एसा दे वहिणी मिअंकावली देवण्ण गणएहिं कहिदचक्कवत्तिघरिणीभावा, सा तुए उचिदं वरं लंभइदव्वात्ति । तदो देवी देवं विण्णवेदि, ण तुम्हाहिंतो अण्णो वरो एदाए जोग्गो । जदो पोम्मराअमणी एव्व एआवलि अलंकरेदि । ता परिणेदुं अज्जउत्तो । ण अत्तणो सिरी अण्णहत्थे संकमयिदव्वा होदि । णअ एदं आसंकिदव्वं किं त्ति देवी अत्तणो सावत्तणेण पअट्टदि त्ति । जदो महाउलप्पसूदानं भत्तुणो पिअं एव्व अप्पणो पिअंति । किं च, पुणो परिणाविदो एव्व मए अज्जउत्तो । तं जधा, मअधाहिव सुदं अणंगलेहं, मालवणरिंददुहिअरं रअणावदिं पिअदंसणं अ, पांचालराजतणअं विलासवदिं, अवंतीसरसुदं केलिवदिं, कलावदिं अ, जालंधरेसकुमारिलीलावदिं, केरलराअपुत्ति मत्तलेहं च ता अज्ज चिअ पदोसे विआह-लग्गो त्ति लग्गो उग्गो भणिदेण महाराएण तहत्ति पडिवण्णं । तामेहल-वुत्तंतं पडिकादुं अलीअविवाहेण विडंबीअदु भट्टा । कुविदस्स मे भत्तुणो उत्तरं ईसिअरं हुविस्सदि,

(विज्ञप्तो विचक्षणामुखेन देव्या भर्ता । यथा ओअल्लागतस्य मृगाङ्कवर्मणो भगिनी मृगाङ्कावली नाम स्नेहेन भ्रातृकं द्रष्टुमागता । सन्दिष्टश्च मे मातुलेन चन्द्रवर्मणा मातुलान्या हारलतया च । यथैषा ते भगिनी मृगाङ्कावली दैवज्ञगणकैः कथित-चक्रवर्ति-गृहिणीभावा, सा त्वयोचितं वरं लम्भयितव्येति । तस्माद्देवी देवं विज्ञपयति न युष्मत्तोऽन्यो वर एतस्या योग्यः । यतः पद्मरागमणिरेवैकावली-

---

ब्राह्मणी—(सोते में बड़बड़ाती हुई) महारानी ने विचक्षणा के द्वारा स्वामी को सूचित किया है कि ओल्लागत मृगाङ्कवर्मा की बहिन मृगाङ्कावली स्नेहवश भाई को देखने आई है और मेरे मामा चन्द्रवर्मा तथा मामी हारलता ने सन्देश दिया है कि इस तुम्हारी बहिन मृगाङ्कावली के विषय में ज्योतिषियों ने कहा है कि यह चक्रवर्ती की पत्नी होगी, अतः तुम किसी योग्य वर से इसका विवाह करा दो। अतः महारानी ने महाराज से कहा है कि तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा वर इसके योग्य नहीं है। क्योंकि

मलङ्करोति। तस्मात् परिणयत्वार्यपुत्रः। नाऽस्माभिः श्रीरन्यहस्ते संक्रामयितव्या भवति। न चैतदाशङ्कितव्यं किमिति देव्यात्मनः सापत्न्येन प्रवर्तत इति। यतो महाकुलप्रसूतानां भर्तुः प्रियम् एवाऽऽत्मनः प्रियमिति। किञ्च पुनः परिणायित एव ममार्यपुत्रः। तद् यथा, मगधाधिपसुतामनङ्गलेखाम्, मालवनरेन्द्रदुहितरं रत्नावलीं प्रियदर्शनाञ्च, पाञ्चालराजतनयां विलासवतीम्, अवन्तीश्वरसुतां केलिमतीं कलावतीञ्च, जालन्धरेश्वरकुमारीं लीलावतीं, केरलराजपुत्रीं पत्रलेखाञ्च तस्मादद्यैव प्रदोषे विवाह-लग्नमिति पुनः पुनर्भणितेन महाराजेन तथेति प्रतिपन्नम्। तस्मान्मेखलावृत्तान्तं प्रतिकर्तुमलीकविवाहेन विडम्ब्यता भर्ता, कुपितस्य मे भर्तुरुत्तरम् ईषत्करं भविष्यति।)

विदू०—(विहस्य) जइ धम्मं अधम्मो जइस्सदि। जाणिस्सं जो एत्थ विडंबिदव्वो। (विचिन्त्य) ता चिरं पाअइदव्वा जुण्णमज्जरी दुद्धंति कंजिअं। कुवलअमालाए उण महाविलंबणं जं महिला महिलाए परिणेदव्वा। (ऊर्ध्वमवलोक्य) महदी वेला वट्टदि, ता उट्ठावेमि वअस्सं, उट्टेहि देवी तुमं वाहरदि। (यदि धर्ममधर्मो जेष्यति। ज्ञास्यामि योऽत्र विडम्बयितव्यः। तस्माच्चिराय पाययितव्या जीर्णमार्जारी दुग्धमिति काञ्जिकम्।

पद्मरागमणि ही एकावली हार को अलंकृत करता है। अतः आर्यपुत्र इनसे विवाह कर लें। अपनी लक्ष्मी दूसरे के हाथ में नहीं डालना चाहिए और इसके सौत होने से देवी के मन में क्या प्रतिक्रिया होगी—ऐसी शङ्का आप न करें। क्योंकि उच्चकुल में उत्पन्न स्त्री का अपने पति का प्रिय ही अपना प्रिय होता है। और मैं आर्यपुत्र का विवाह अन्य स्त्रियों से करा ही चुकी हूँ—जैसे मगध-नरेश की कन्या अनङ्गलेखा, मालवाधिप की कन्या रत्नावली और प्रिय-दर्शिका, पाञ्चालराज की पुत्री विलासवती, अवन्तीश्वर की सुता केलिमती और कलावती, जालन्धरेश्वर की कुमारी लीलावती एवं केरल-राज की पुत्री पत्र-लेखा (के साथ।) तो आज ही सायंकाल विवाह की लग्न है। इस प्रकार बार-बार कहने से महाराज ने स्वीकृति दे दी। तो मेखलावाली घटना का बदला लेने के लिए मिथ्या-विवाह द्वारा स्वामी को धोखा दिया जाय—वे कुपित होकर कुछ नहीं कर सकेंगे।

विदूषक—(हँसकर) यदि धर्म को अधर्म जीत सकेगा। देखूँगा किसको

कुवलयमालायाः पुनर्महाविडम्बनं यन्महिला महिलया परिणेतव्या। महती वेला वर्तते, तस्मादुत्थापयामि ब्राह्मणीम्। उत्तिष्ठ, देवी त्वां व्याहरति।)

ब्राह्मणी—(विबोधनाटितकेनोत्थाय) अए उच्छूरं वट्टदि। (तं विलोक्य) हंहो मिअतिण्हिआ—जामादुअ! तुमं परमेसरपस्सवदी होहि। अहं उण देवीं अणुसरिस्सं। [इति परिक्रम्य निष्क्रान्तौ] (अए, उत्सूरं वर्तते। भो मृगतृष्णिकाजामातस्त्वं परमेश्वरपार्श्ववर्ती भवाहं देवी मनुसरिष्यामि।)

(प्रवेशकः)

(ततः प्रविशति राजा विदूषकश्च)

राजा—(मदनसंतापयोः पीडामभिनीय) सखे! संप्रति शैशवादपक्रामति ग्रीष्मसमयः।

रजनिचरमयामेऽप्यादिशन्ती रतेच्छां
किमपि कठिनयन्ती नारिकेलीफलाम्भः।
अपि परिणमयित्री राजरम्भाफलानां
दिनपरिणतिभोग्या वर्तते ग्रीष्म-लक्ष्मीः ॥ २ ॥

विडम्बना होती है। बुड्ढी बिल्ली को दूध के बहाने छाछ पिलाना है। कुवलयमाला की तो और विडम्बना होगी, जब स्त्री का स्त्री से विवाह होगा। बहुत देर हो रही है, तो ब्राह्मणी को उठाऊँ। (उठो, तुम्हें महारानी जी बुला रही हैं)।

ब्राह्मणी—(जागने का अभिनय कर, उठकर) अरे! सन्ध्या हो गई। हे मृगतृष्णिका के दामाद! तुम महाराज के पास चलो और मैं महारानी के पास चल रही हूँ।

(प्रवेशक)

(इसके बाद राजा और विदूषक आते हैं)

राजा—(काम और संताप की पीडा का अभिनय कर) सखे! इस समय ग्रीष्मकाल अपने शैशव को त्याग कर जवानी की ओर जा रहा है।

यह ग्रीष्म काल रात्रि के पिछले पहर में सुरत-क्रीडा की प्रेरणा देता है, नारिकेल फल के जल को (सुखाकर) कठोर बना देता है एवं कदली-फलों को पकाता है। ग्रीष्म लक्ष्मी सायंकाल उपभोग योग्य होती है—सायंकाल ग्रीष्म का आनन्द उठाना चाहिए ॥ २ ॥

अपि च ।

जलार्द्रैः संव्यानं बिसकिसलयैः केलिवलयाः
शिरीषैरुत्तंसा विचकिलमयी हाररचना ।
शुचावेणाक्षीणां मलयजरसार्द्राश्च तनवो
विना तन्त्रं मन्त्रं रतिरमणमृत्युञ्जयविधिः ॥ २ ॥

विदूषकः—एवं एदं । अह्मारिसजणस्स खलासअस्स उडुप्पाओ वट्टइ धम्मो ।
(एवमेतत् । अस्मादृशजनस्य खलाशयस्य ऋतुप्रायो वर्तते धर्मः ।)

राजा—(निःसहं विहस्य) ललाटंतपस्तपनो नखंपचाश्च पथिपांसवः ।
तदसूर्यंपश्या राजदाराः । अपि च—

हरन्ति हृदयानि यच्छ्रवणशीतला वेणवो
यदङ्कितकरार्पिता शिशिरवारिणा वारुणी ।
भवन्ति च हिमावहाः स्तनभुवो यदेणीदृशां
शुचेरुपरि संस्थितो रविपतेः प्रसादो गुरुः ॥ ४ ॥

और भी—

ये सब ग्रीष्म में बिना तन्त्र-मन्त्र के कामदेव को अमर बनाने के लिए सुन्दरियों के साधन हैं—जल से आर्द्र एवं शीतल वस्त्रों से शरीर को आच्छादित करना, कमल-नाल के क्रीडा-कंकण, शिरीष-पुष्पों के कर्णभूषण, विचकिल पुष्पों के हार एवं चन्दन रस से आर्द्र शरीर ॥ ३ ॥

विदूषक—हाँ ऐसा ही है। हम ऐसे पापी को धर्म ऋतुप्राय है ।

राजा—(सहन न करता हुआ हँसकर) सूर्य माथे को तपा रहा है—बहुत तीव्र हो रहा है, मार्ग की धूल पावों को झुलसा रही है, तो (ऐसे समय में) रनिवास की रानियाँ, जिन्हें सूर्य का दर्शन दुर्लभ होता है, (कितनी सुखदायक होती हैं) और भी—

कानों को मधुर लगने वाला वंशीरव हृदय को हर लेता है, पास में शीतल-जल-मिश्रित वारुणी (शीतलता प्रदान करती है) एवं मृगनयनियों का स्तन-प्रदेश शीतलता प्रदान करता है। यह सब ग्रीष्म ऋतु पर सूर्य की बड़ी कृपा है ॥ ४ ॥

एवं च सखे ! संश्रृणुमः—

मूलं वालधि-वीरुधां सुरभयो जातीतरूणां त्वचः
साराश्चन्दनशाखिनां किसलयान्यार्द्राण्यशोकस्य च ।
शैरीषी कुसुमोद्गतिः परिणमन्मोचश्च सोऽयं गणो
ग्रीष्मेणोष्महरः पुरा किल ददे दग्धाय पञ्चेषवे ॥५॥

(निःसहतामभिनीय)

मयि शिशिरतरोपचारयोग्यं द्वितयमिदं युगपन्न सह्यमेव ।
जरठितरविदीधितिश्च कालो दयित-जनेन समं च विप्रयोगः ॥६॥

(नेपथ्ये) दोलालआहिकुंचनसरलंगुलिदीहराहिं चरणाहिं अपहारिज्जइ वलइअकरजुअलंचिअणेउराहरणम् , करजुअलनिविडपीडिदपेरंतविणिग्ग अंचलचडुलप्पा छोडिज्जइ सरभससहीपडिक्खिआ चिअ कणअकंचुलिआ (मणि) खचिदोअरसिठिलयणकंचुअत्थइयणभराहिंतो अवणिज्जइ उद्ध-

---

और हे मित्र ! हम ऐसा सुनते हैं—

वालधि लताओं का मूल, जातीवृक्ष की सुगन्धमय छाल, चन्दन वृक्ष का सार, अशोक वृक्ष की नयी कोपल, शिरीष वृक्ष के कुसुम, पकता हुआ केला—इन सब गर्मी दूर करने वाली वस्तुओं को (शंकर के द्वारा) भस्म किये गए कामदेव को प्राचीन काल में ग्रीष्म ने प्रदान किया था ॥ ५ ॥

(असह्यता का अभिनय कर)

प्रचण्ड सूर्य की किरण और प्रियजन का वियोग—इन दोनों को शीतल उपचार सामग्री की अपेक्षा होती है, मुझे एक ही समय में ये दोनों सर्वथा असह्य हैं ॥ ६ ॥

(नेपथ्य में) हिंडोले के समान वक्रगति से झूलते हुए एवं सीधी अंगुलियों के कारण दीर्घ प्रतीत होने वाले चरणों से, दोनों हाथों को वलयाकार बनाकर नूपुर उतारे जा रहे हैं। दोनों हाथों के लगातार पीड़न से एक ओर सरके हुए अञ्चलरूपी आत्मावाली स्वर्ण कञ्चुकी खोली जा रही है। मणियों से खचित अन्तरभाग वाले शिथिल स्तनकञ्चुक से ढँके हुए स्तनों से हाथ ऊपर

करग्गकट्टणुव्विलं उवरिल्लम् । उभअकरवलइअंगुलोपरिग्गहणमुक्ककण्ठ-सट्ठाणो उद्धारिज्जइ थण-मण्डलाहि दरांदोलिओ हारो । परिपाडिसमुण्ण-मिअभुअलअं परप्फरं करग्गेहि कड्ढिज्जइ कमसिढिलसंकोडभाओ कञ्च-णकडओ । कमसो सरंत संजमणकुडिलं आमूलचुम्बिअणिअम्बो उरज्जइ णहपरिपाडितरलिओ एसो चिउरपासो । सरलिअतरलंगुलिविवरंविअग-मुक्ककुडिलविणिवेसो कामिज्जइ उज्जहलाउभुअ-घअणम्मि अलआणं णिउरंबो । करकमलकणिट्ठंगुलिणहसिहरुल्लिहिअतवलिसत्थिणअं पट्टो-रिज्जइ पुणरुत्तमंगलस्स वलाहि णिअंबंसुअं । पुढमोवलित्तणापिअ-वाणिसं-पुट्ठमंपिट्ठिआसु धारासु दरदन्तसमूहपहारासु हत्थं मच्छिज्जइ एत्थ तह मणो हरइ वारविलासिणीणं दइअसहिदाणं णिहावरहसोभग्गससणो मज्जणारंभो । (दोलालताभिकुञ्चनतरलाङ्गुलिदीर्घाञ्चलपादपद्मायते । वलयितकर-युगलाञ्चितनूपुराभरणम् । करयुगलनिबिडपीडितपर्यन्तविनिर्गताञ्चलपटुलाला मुच्यते सरभससखीप्रतीक्षितेव कनककञ्चुलिका) । (मणि) खचितोदराशिथिलस्तन-कंचुकस्थगितस्तनभरादपनीयते ऊर्ध्वकराप्रकर्षणाव्यत्यस्तमुत्तरीयम् । उभयकरवल-यिताङ्गुलिपरिग्रहणमुक्तकण्ठसंस्थानः उद्धार्यते स्तनमण्डलाद् दरान्दोलितो हारः । परिपाटिसमुन्नमितभुजलतं परस्परं कराग्रैः कृष्यते क्रमशिथिलसङ्कोचभावः काञ्चन-कटकः । क्रमशः सरत्संयमनकुटिल्मामूलचुम्बितनितम्बो विकीर्यते । (नख) परिपाटि-

---

करके खींचकर व्यत्यस्त उत्तरीय हटाया जा रहा है । दोनों हाथों की वलनाकार अँगुलियों द्वारा कण्ठस्थान को छोड देने वाले एवं किञ्चित् आन्दोलित हार, स्तन-मण्डल से ऊपर उठाया जा रहा है । परिपाटी (कंकण उतारने का ढंग) से भुजाओं को उन्नमित करते हुए परस्पर दोनों हाथों से क्रमशः पीडा-भाव को कम करने वाला काञ्चन-कटक (सोने का कंगन) उतारा जा रहा है । क्रमशः बन्धन ढीला होने से मूल-पर्यन्त नितम्बदेश को छूने वाला कुटिल केश, जो नख-चिह्नों की श्रेणियों पर लहरा रहा था, अब विकीर्ण किया जा रहा है । सरल और चञ्चल अँगुलियों के विवरों में आए हुए निर्मुक्त एवं कुटिल विन्यास वाला अलकों का समूह कान्तिमान् और सुन्दर मुख पर सुहलाया जा रहा है । करकमलों की कनिष्ठांगुलि के नखों के शिखरों से चिह्नित त्रिवली और

तरलित एव चिकुरपाशः। सरल्वितरलांगुलि-विरचितनिर्मुक्तकुटिलविनिवेशः समीक्रियते कर्णसन्धुतदने अलकानां निकुरंबः। करकमलक्षनिग्रागुल्फिनसद्दि-सरोल्लिखितत्रिवलितस्मिगतम् उन्मुच्यते पुनरुक्तनंगलाय बद्धनितम्बांशुकम्। प्रथमावतीर्णप्रियशानिपुटसंरडितासु धारासु दरदत्तसमूहप्रहारासु हस्तोऽर्प्यते क्षणा-र्धम्। इह तथा मनो हरति वारविलासिनीनां दयितसहितानां ग्रीष्मापराह्णसौभा-ग्यशंसनो मज्जनारम्भः।)

राजा—(समाकर्ण्य) एवमेवैतत्।

> इह विचकिलचापे मन्दयन् पाटलास्त्रं,
> त्रिभुवनजयलीलालालसः कौतुकेन।
> दिवसगमनकेलिस्नायिनीनां वधूना-
> मधिवसति मनोभूर्मानसादङ्गमङ्गम् ॥ ७॥

विदूषकः—भो सुणाहि दाव, अन्तरिदो पिअकहासु अदिक्कन्तपओस-वुत्तन्तो। जदो सिविणअदंसणदिअहादो पहुदि देवी पुणो पुणो पमज्जदि। तदणुबंधेण पिङ्गलिआ वि वह्लणी दिणे दिणे मंतेइ। (भोः शृणु तावत्,

---

चौर में स्थित नितम्बांशुक बन्धपूर्वक पुनर्मंगल के लिए हठात् खोला जा रहा है। पहले उतरे हुए प्रिय के पाणिसंपुट से पीडित एवं सामूहिकरूप से जिनमें किञ्चित् प्रहार किया गया था, ऐसी धाराओं में थोड़ी देर के लिए हाथ अर्पित किया जा रहा है। यहाँ पर प्रियतमों के साथ रहने वाली वार-विलासिनियों के सौभाग्य की सूचना देने वाला ग्रीष्मापराह्णमज्जन मन को मोह रहा है।

राजा (सुनकर) ऐसा ही है।

(१) विनोदार्थ विचकिल पुष्प के धनुष पर पाटलपुष्प का बाण चढ़ाकर त्रिभुवन को जीतने की क्रीडा करने का इच्छुक कामदेव, ग्रीष्मऋतु की आसन्न सन्ध्यावेला में जलक्रीडा करने वाली युवतियों के मानस से निकल कर, उनके अङ्ग-अङ्ग में निवास करता है ॥ ७ ॥

विदूषक—अरे सुनो तो—प्रियजनों की ही चर्चा में गत सायंकाल का

अन्तरितः प्रियकथया अतिक्रान्तप्रदोषवृत्तान्तः यतः स्वप्नदर्शनदिवसात् प्रभृति देवी पुनः पुनः प्रसन्नति । तदनुबन्धेन पिङ्गलिकापि ब्राह्मणी दिने दिने मन्त्रयते ।)

राजा—युज्यते। यदरिष्टमधिरूढा कारवल्ली-वल्लरी किमुच्यते कटुकत्वं प्रति न कापि महती वार्ता। किन्तु—

तारान्तः पुरवान् वियत्यपि शशी नो नेत्रपात्रीकृतः
श्रोत्रस्यास्त्ययनं कृतो न च मया वैपञ्चिकः पञ्चमः ।
तन्वङ्ग्याः स्मरता दृशौ तत इतस्ते साचि सञ्चारिते
नो पीतञ्च सविभ्रम-प्रणयिनीगण्डूषधारं मधु ॥ ८ ॥

विदू०—एदो वि कामिणो उम्मत्ता विअ मे पडिभासन्ति । जदो सच्चं दाव सुन्दरीअ थन-णिरीक्खणगमणादिहिं किं वि विआरिज्जन्ति । ता कहेदु, किं एदं ? (एतेऽपि कामिन उन्मत्ता इव मे प्रतिभासन्ते। यतः सत्यं तावत् सुन्दर्याः स्तन निरीक्षणगमनादिभिः किमपि विक्रियन्ते । तस्मात् कथयतु, किमेतत् ?)

वृत्तान्त सुनाना ही भूल गया। स्वप्नदर्शन के दिन से ही महारानी बहुत सतती हैं। उसके अनुबन्ध से पिंगलिका ब्राह्मणी भी प्रतिदिन मन्त्रणा देती है।

राजा—उचित ही है। एक तो करेला दूसरे नीम पर चढ़ा, तो फिर उसकी कड़ुआहट का क्या कहना। कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं है किन्तु—

उस सुन्दरी के इधर-उधर तिरछे चलाये गए नेत्रों को स्मरण करते हुए मैंने आकाश में तारा (पत्नी) युक्त चन्द्रमा को नेत्रों से नहीं देखा, वीणा का मधुर पञ्चम स्वर कानों से नहीं सुना तथा हाव-भावयुक्त ललना के हाथों से मदिरा नहीं पी ॥ ८ ॥

विदूषक—ये कामीजन भी मुझे पागल से प्रतीत होते हैं, जो सुन्दरियों के शरीर, दृष्टि-पात तथा चाल आदि देखकर कुछ विकृत हो जाते हैं। तो बताओ यह क्या है ?

राजा—किमत्र मां पृच्छसि, तत्रभवन्तं रतिपतिं पृच्छ—

यत् पश्यन्ति झटित्यपाङ्गसरणिद्रोणीजुषा चक्षुषा
वल्गन्ति कमकम्पितोभयभुजं यन्नाम वामभ्रुवः।
भाषन्ते च यदुक्तिभिः स्तबकितं वैदग्ध्यमुद्रात्मभि-
र्न्मदेवस्य रसायनं रस-विधिं मन्ये मनोजन्मनः ॥९॥

विदूषकः—भो ताए दाव अज्जणीणा अत्थि कविवत्ता ?
(भोस्तस्याः पुनरद्यतनी नास्ति कापि वार्ता ?)

राजा—सखे ! अस्ति कथ्यते। यतो गतस्याह्नः सायं समये विचक्षणा सल्लमेनदवस्थां निवेदितवती।

विदूषकः—कदरेहिं अक्खरेहिं ? (कतरैरक्षरैः ?)

राजा—

डोलालोलाः श्वसितमरुतश्चक्षुषी निर्झराभे
तस्याः शुष्यत्तगरसुमनःपाण्डरा गण्डभित्तिः।
तद्गात्राणां मुहुरिह कियद् ब्रूमहे दुर्बलत्वं
येनामग्रे प्रतिपदुदिता चन्द्ररेखाऽप्यवन्ध्यी ॥ १० ॥

राजा—इस विषय में मुझसे क्या पूछते हो, श्री कामदेव जी से पूछो। कुटिल भौं वाली सुन्दरियाँ तिरछे नेत्रों से जो देखती हैं, जिन भुजाओं को हिलाती जो चलती हैं, चातुर्य पूर्ण उक्तियों से जो मधुर वचन बोलती हैं—मैं समझता हूँ, यह सब कामदेव जी के लिए प्रीति-विवर्धक रसायन है॥ ९॥

विदूषक—अरे, उस सुन्दरी के सम्बन्ध में आज भी कोई नई खबर है ?

राजा—सखे, है, कहता हूँ। गत दिवस की सन्ध्या को विचक्षणा ने उसकी यह सही अवस्था बताई।

विदूषक—किन अक्षरों में ?

राजा—सुनो—

उसकी दीर्घ साँसें हिंडोले की तरह लम्बी आती-जाती हैं, नेत्र निर्झर की भाँति बह रहा रहे हैं एवं उसके कपोल सूखते हुए तगर के पुष्प की भाँति पीले हो गये हैं। उसका शरीर कितना दुर्बल हो गया है—क्या कहूँ, उसके सामने तो प्रतिपद की चन्द्ररेखा भी मोटी हो लगती है॥ १० ॥

विदूषकः—तदो तदो ? (ततस्ततः ?)

राजा—ततश्च

नागवल्लिरधिरोहतु पूगं रात्रिरेणतिलकेन समेतु ।
त्वामसौ व्रजतु किन्नरकण्ठी कार्मुकं वहतु चित्रमनङ्गः ॥ ११ ॥

विदूषकः—विअक्खणावअणादो जाणीअदि पाणिपीडणा पुरदो पाविओ अप्पा । (विचक्षणावचनात् ज्ञायते पाणिपीडनात् पुरतः प्रापित आत्मा ।)

राजा—स च चतुष्पदीपर्यवसितः श्लोकः प्राभृतीकृतः ।

विदूषकः—ता पसाद कदुअ पढदु पिअवअस्सो ।
(तस्मात् प्रसादं कृत्वा पठतु प्रियवयस्यः ।)

राजा—(पठति)

विधत्ते सोल्लेखं कनयदिह नाङ्गं तरुणिमा
तथापि प्रागल्भ्यं किमपि चतुरं लोचनयुगे ।

विदूषक—उसके बाद ?

राजा—उसके बाद

यह किन्नर के समान मधुर कण्ठ वाली तुम्हें भी प्राप्त हो जाय तो समझिये जैसे पान की बेल सुपारी के वृक्ष पर चढ़ जाय, रात्रि चन्द्रमा से युक्त हो जाय अथवा कामदेव अपना विजयी धनुष धारण कर ले ॥ ११ ॥

विदूषक—विचक्षणा के कहने से तो मालूम होता है कि पाणिग्रहण के पहले ही उसने आत्मसमर्पण कर दिया ।

राजा—उसने एक चार-पदों का श्लोक उपहार-स्वरूप भेजा है ।

विदूषक—तो कृपा कर प्रिय मित्र पढ़ें ।

राजा—(पढ़ता है)

यों तो युवावस्था जिस अङ्ग को विशेष सौन्दर्यपूर्ण नहीं कर देती, तथापि नेत्रों में एक अपूर्व चातुर्यपूर्ण प्रगल्भता ला देती है । नेत्रों से जिसे देखा गया—तत्काल उसके मनोगत समस्त भावों को वे समझ

यदादत्ते हृदयादखिलमपि भावव्यतिकरं
मनोवृत्तिं द्रष्टुः प्रथयति च दृश्यं प्रतिजनम् ॥ १२ ॥

किञ्च—

स्वकण्ठकाण्डान् सुदृशोऽवतार्य,
स्वप्नेऽर्पितो यो मम कन्धरायाम् ।
पुनर्मया तत् कुचसीम्नि मुक्तो,
हारः स तु प्राभृतमद्य जातः ॥ १३ ॥

विदूषकः—भो किं चि रहस्सं पुच्छीअसि। (भोः किंचिद्रहस्यं पृच्छ्यसे।)

राजा—कथ्यते ।

विदूषकः—मिअंकावली कुवलअमालाणं किं अंतरं? (मृगाङ्कावली-कुवलयमालयोः किमन्तरम्?)

राजा—आस्ताम्, पर-कलत्रं हि सा वर्तते ।

विदूषकः—भो पत्थिव, अणभिण्णोऽहम् । जेण उण सालभञ्जा अद्धभज्जेति भणिदा । ता कहेसु केत्तिअं अंतरं मिअंकावली-कुवलअ-

---

लेते हैं और जिसने देखा—उसकी भी मनोवृत्ति को देखे गये मनुष्य से ये बता देते हैं । इस प्रकार दोनों (द्रष्टा और दृश्य) की परस्पर एक दूसरे को अपने-अपने हृद्गत भावों को गुप्तरूप से बतलाने में ये नेत्र बड़े सहायक होते हैं ॥१२॥

और

सुनयना ने अपने कण्ठ से उतार कर जो हार मेरे गले में स्वप्न में अर्पित किया था, मैंने उसे पुनः जो उसके कुचप्रदेश पर डाल दिया—वह उस समय मेरी तरफ से भेंट—स्वरूप हो गया ॥१३॥

विदूषक—कुछ रहस्य की बात पूँछता हूँ ।

राजा—कहूँगा ।

विदूषक—मृगाङ्कावली और कुवलयमाला में क्या अन्तर है ?

राजा—रहने दो, वह (कुवलयमाला) परायी स्त्री है ।

विदूषक—राजन् ! साले की स्त्री अपनी आधी स्त्री कही गई है, क्या मैं

मात्रायां ? (भोः वयस्य ! अलीकमिदम् । येन पुनः स्वयमन्तरं अर्थेनापि नाभिज्ञा तस्मात् कथय, कियदन्तरं मृगाङ्कावली कुवलयमालयोः ।)

राजा—यावदन्तरं मृगाङ्कावलीकुवलयमालयोः ।

विदूषकः—भो पुणो भणिदेण किं भणिदं होदि ? (भोः पुनर्भणितेन किं भणितं भवति ।)

राजा—तर्हि दृष्टान्तान्तरेण कथ्यते, यावदन्तरं घनसारागुरुसारयोः

विदूषकः—सुट्ठुदरं जाणीअदि । (सुष्ठुतरं ज्ञायते ।)

राजा—श्रूयताम्—

लाटीचन्दनपङ्कपिञ्जरसवद्वैदूर्यमणिभिः कुन्तली
 पूर्णा रत्नमयी विभाति रचनाभ्यां तु मुक्तामयीम् ।
इत्थं द्वे अपि ते विलासकदने देवस्य देहोद्भवः
 साम्याः किन्तु नितान्तनिर्मितजगच्चाकन्यकामोदयः ॥१४॥

इतना नहीं जानता। तो बताओ मृगाङ्कावली और कुवलयमाला में कितना अन्तर है ?

राजा—जितना अन्तर मृगाङ्कवती (चन्द्रमा) और कुवलयमाला (नीले कमल) में।

विदूषक—इसी को दोहरा कर कहना क्या कहना हुआ !

राजा—तो दूसरा उदाहरण देकर कहता हूँ, जितना अन्तर कपूर और अगर में होता है।

विदूषक—अच्छी तरह जानता हूँ।

राजा—सुनिये—

लाटी (लाटदेश की रमणी) चन्दन के लेपन जैसे अङ्गोंवाली है एवं कुन्तली (कुन्तलदेश की स्त्री) दूध की भाँति सौन्दर्य अङ्गोंवाली है। लाटी (लाटी) रत्नों से शृङ्गार करती है और दूसरी (कुन्तली) मोतियों से। इस प्रकार दोनों कामदेव की क्रीडाभूमि हैं, किन्तु लाटी की समस्त संसार को मोह लेनेवाला महत्व सम्पन्न जान है ॥१४॥

सखे, पुनर्निरूपय, तदनुपपन्नमिव, तामेवेमां यदुतास्मान् देवी परिणाययिष्यति ।

विदूषकः—ण क्खु दिट्ठे अणुववण्णं णाम । (पुरो दर्शयन्) संबंधिणी-चेटीओ दीसंदि आअच्छंतीओ । (न खलु दृष्टे अनुपपन्नं नाम । सम्बन्धि-नीचेट्यो दृश्यंते आगच्छन्त्यः ।)

राजा—का पुनस्ते सम्बन्धिनी ?

विदूषकः—देवी ।

राजा—(विहस्य) तदेहि चित्रशालिकामधितिष्ठावः (तथा तिष्ठतः)

(ततः प्रविशन्ति नेपथ्यपटलकहस्तश्चेट्यः । सर्वाः परिक्रामितकेन)

एका—हला कुरंगिके ! कहिं उण महाराओ पेक्खिदव्वो । (हला कुरंगिके ! क्व पुनर्महाराजः प्रेक्षितव्यः ।)

द्वितीया—सहि, तरंगिए जहिं आसण्ण-विवाहकोऊहलहलहलाफु-रिदो जणो दीसइ । (सखि तरंगिके, यत्राऽऽसन्नविवाहकौतूहलहल-हल-स्फुरितो जनो दृश्यते ।)

सखे ! देवी उसी सुन्दरी के साथ मेरा जो विवाह करेंगी—अभी तक वह हुआ नहीं, पता लगाओ—क्या बात है ।

विदूषक—(सामने की ओर दिखाता हुआ) सम्बन्धिनी और दासियाँ आती हुई दिखाई दे रही हैं।

राजा—तुम्हारी सम्बन्धिनी कौन ?

विदूषक—महारानी जी ।

राजा—तो आओ हम तुम चित्रशाला में बैठें । (दोनों वहाँ बैठते हैं)

(इसके बाद हाथ में शृंगार-सामग्री की टोकरी लिए दासियाँ रंगमञ्च पर आती हैं) ।

(सभी घूमने का अभिनय कर)

एक—कुरंगिके ! महाराज कहाँ मिलेंगे ?

दूसरी—जहाँ ऐसा आदमी दिखाई देता हो, जिसके हृदय में विवाह निकट होने से कौतुहलवश हड़कम्प मची हो ।

अन्या—अइ सुलक्खणे किं विअ लक्खणं मन्तीअदि । जदो सहस्साणं पाणि गाहिदस्स को विअ कोऊहलहल्लहलओ। (अइ सुलक्षणे ! किमिव लक्षणं मन्त्र्यते । यतः सहस्राणां पाणि ग्राहितस्य क इव कौतूहल-हल-हलकः !)

अपरा—पिअवअस्से, विअक्खणासि किं णु क्खु अणभिण्णासि कंदप्पचरिआणं जं दाणीं णवं णवं कोऊहलं कामि-जणे । (प्रियवयस्ये ! विचक्षणासि, किन्तु खल्वनभिज्ञासि कन्दर्पचरितानाम् ! यदिदानीं नवं नवं कौतूहलं कामिजने ।)

विचक्खणा—(पुरतोऽवलोक्य) एस भट्टा पंडरपरिक्खामो पआहपुण्णिमाचन्दो विअ सणिच्चरणुगओ अज्जचाराअणदुदिओ चित्तसालादुधारदेसे दीसइ । (एष भर्ता पाण्डुरपरिक्षामः प्रभातपूर्णिमाचन्द्र इव शनैश्चरानुगत आर्यचारायणद्वितीयश्चित्रशालाद्वारोद्देशे दृश्यते ।)

कुरं०—(उपसृत्य) जेदु भट्टा । देवी विण्णवेदि, आमण्णं विवाह-लग्गं । ता इमं विवाहणेवच्छमंगलं करिअ अधिट्ठीअदु विवाहचउक्किया। (जयतु भर्ता । देवी विज्ञापयति, आसन्नं विवाहलग्नं तस्मादिदं विवाहनेपथ्य-मंगलं कृत्वाऽधिष्ठीयतां विवाह-चतुष्किका ।)

अन्या—अरी सुलक्षणे ! यह कौन सा लक्षण बता रही है। जिसने हजारों के साथ विवाह किया, उसे कौतूहलवश क्या हड़कम्प होगी।

अपरा—प्रिय सखि ! नाम से तो तुम विचक्षणा हो किन्तु कामदेव के चरितों को बिल्कुल नहीं जानती हो। अरे, ऐसे अवसर पर कामी पुरुष में नया नया कौतूहल होता है।

विचक्षणा—(सामने देखकर) पीले और दुर्बल स्वामी जो, शनैश्चर सहित प्रभात कालीन पूर्णिमा के चन्द्र के समान, आर्य चारायण के साथ चित्रशाला के द्वार पर दिखाई पड़ रहे हैं।

कुरङ्गिका—(निकट जाकर) स्वामी की जय हो ! महारानी जी कह रही हैं—विवाह-लग्न निकट है, तो आप विवाह के समय का शुभ वस्त्राभूषण धारण कर विवाह की चौकी पर बैठें।

राजा—यथाह देवी, शान्तम्, यदादिशति देवी।

विदू०—(आत्मानं निर्दिश्य) संबंधिजणाणुरूपं भुज्जं किं पि किदं? (सम्बन्धिजनानुरूपं भोज्यं किमपि कृतम्?)

सर्वाः—अरं दइस्सामो। (अरं दयिष्यामहे।)

विदू०—किं विअ तं। (किमिव तत्।)

कुरं०—जं कंकेलितरू दोहले लहइ। जं वा भअवम् तिणअणो सीसे समुव्वहइ। (यत् कङ्केलितरुर्दोहदे लभते, यद्वा भगवांस्त्रिनयनः शीर्षे समुद्वहति।)

विदू०—(दण्डकाष्ठमुद्यम्य) दासीओ महराअपिअवअस्सं पिंगलिआ बह्मणी सिसुत्तणवल्लहपंडिअं सिसुसदिण्णविज्जं चाराअणबह्मणं अहिक्खिवध। ता इमिणा तुह्मारिसचेडीअणचित्तकुडिलेण दंडकट्ठेण भुअंगजणजुगुच्छिआइं वअणाइं करिस्सं। (दास्यः, महाराजप्रियवयस्यं पिङ्गलिकाब्राह्मणीशिशुत्ववल्लभपण्डितं शिशुदत्तविद्यं चारायणब्राह्मणमधिक्षिपथ। तस्मादमुना युष्मादृशचेटीजनचित्तकुटिलेन दण्डकाष्ठेन भुजगजनजुगुप्सितानि वदनानि करिष्यामि।)

राजा—जैसा देवी जी कह रही हैं—शान्तम्-(अरे नहीं) जैसा देवी का आदेश है।

विदूषक—(अपने को निर्दिष्टकर) सम्बन्धीजनों के अनुरूप कुछ भोजन भी तैयार किया है?

सभी दासियाँ—अर (पहिये की नाभि और नेमि के बीच की लकड़ी) देंगी।

विदूषक—यह क्या?

कुरङ्गिका—अशोक वृक्ष जो दोहद के समय पाता है (अर्थात् चरणाघात) अथवा भगवान शंकर जिसको शिर पर धारण करते हैं (अर्धचन्द्र—अर्थात् गला पकड़ कर निकाल देना)

विदूषक—दासियो! जो महाराज का प्रिय मित्र, पिंगलिका ब्राह्मणी का बचपन से ही प्रेमी पण्डित और जिसने बच्चों को विद्या दी, उस चारायण ब्राह्मण का तुम तिरस्कार कर रही हो। तो तुम्हारी ऐसी दासियों के चित्त की भाँति कुटिल (टेढ़े) इस डण्डे से तुम लोगों का मुँह कुचल दूँगा।

तर—मरिसेदु मरिसेदु अज्जो। संबंधिओत्ति देवीविलासिणीओ वक्करं करेन्ति। (मर्षयतु मर्षयत्वार्यः। सम्बन्धिक इति देवीविलासिन्यश्चोद्यं कुर्वन्ति।)

अन्या—अलं वक्करेण, दुव्वासो अज्जचाराअणो। (अलं चोद्येन, दुर्वासा आर्यचारायणः।)

विदू०—(विहस्य) संपदं एव्व सुवासो हुविस्सदि। ता विवाहमहूसवं करेह्म। सुलक्खणे हारलट्ठिए कलअण्ठि वसन्तलए लवंगिए कामकेलि हारकेलि मिअंकप्पहे रहंगि सामलंगि बउलावलि पहुणो अवसर विअक्खणं करं कंकेण-बंधेण विरएध विआहदिक्खं। (सांप्रतमेव सुवासा भविष्यति। तस्माद् विवाहमहोत्सवं कुर्मः। सुलक्षणे, हारयष्टिके, कलकण्ठि, वसन्तलते, लवङ्गिके, कामकेलि, हारकेलि, मृगाङ्कप्रभे, रथाङ्गि, श्यामलाङ्गि, बकुलावलि, प्रभोरवसरविचक्षणं करं कंकणबन्धेन विरचयत विवाहदीक्षाम्।)

(सर्वा उपसृत्य रत्नवासःकंकणकुसुमादिकमुपनयन्ति)

राजा—नाट्येन परिधत्ते।

विदूषकः—(वदवासिष्ठेन समालम्भनादिनात्मानं मण्डयति।)

घरडिका—आर्य क्षमा करें, क्षमा करें। आप सम्बन्धी हैं, इसलिए महारानी की दासियाँ हँसी कर रही हैं।

अन्या—हँसी बन्द करो, आर्य चारायण दुर्वासा हैं (१—दुर्वासा की तरह क्रोधी, २—बुरे वस्त्रों वाला)

विदूषक—(हँसकर) अभी ही सुवासा (सुन्दर वस्त्रों वाला) हो जायेगा। तो आओ हम लोग विवाहोत्सव करें। सुलक्षणे! हारयष्टिके! कलकण्ठि! वसन्तलते! लवङ्गिके! कामकेलि! हारकेलि! मृगांकप्रभे! रथाङ्गि! श्यामलाङ्गि! बकुलावलि! स्वामी के अवसर विचक्षण हाथ को कङ्कन-बन्धन से सुशोभित कर विवाहार्थ दीक्षित करो।

(सब दासियाँ पास आकर रत्न, वस्त्र, कङ्कण एवं कुसुम आदि रखती हैं)

राजा—(अभिनय के साथ धारण करता है।)

विदूषक—(राजा के उपयोग से बची लेपनादि सामग्री से अपना मण्डन करता है।)

विच०—भोदिओ किं विलम्बेण, आरम्भरमणिज्जाइं कल्लाणाइं होन्ति। ता एत्थ गाएध णच्चध। (भवत्यः किं विलम्बेन, आरम्भरमणीयानि कल्याणानि भवन्ति, तस्मादत्र गायत नृत्यत।)

विदू०—भो एदाणं मज्झे अहं वि गाइस्सं णच्चिस्सं अ। (भो एतासां मध्ये अहमपि गास्यामि नर्तिष्यामि च।)

राजा—यदभिरुचितं भवते।

(विदूषकेण सह सर्वा नृत्यन्ति गायन्ति च)

(नेपथ्ये)

हंहो सुलक्खणामिस्साओ, किं विलंबेण, आणेध महाराअं सपरिवारा देवी संपत्ता ज्जेव। (अहो सुलक्षणामिश्राः, किं विलंबेन, आनयत महाराजम्, सपरिवारा देवी संप्राप्तैव।)

तरं०—इदो इदो एदु महाराओ। [सर्वे परिक्रामन्ति] (इत इत एतु महाराजः।)

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टा देवी, कृतवेषेण मृगाङ्कावली [कुवलयमाला] च)

विचक्षणा—तुम लोग देर क्यों कर रही हो, शुभं शीघ्रं कुर्यात्। तो तुम लोग गाओ, नाचो।

विदूषक—मित्र! इनके बीच में भी गाऊँगा, नाचूँगा।

राजा—जो आपको अच्छा लगे।

(विदूषक के साथ सब नाचती-गाती हैं)

(नेपथ्य में)

अरे सुलक्षणा आदि चेटियो! क्यों देर कर रही हो। महाराज को ले आओ। अनुचर-अनुचरियों समेत महारानी आ ही रही हैं।

तरङ्गिका—महाराज इधर, इधर आयें। (सब घूमते हैं।)

(इसके बाद यथानिर्दिष्ट देवी, पुरुषवेश में मृगाङ्कावली और कुवलयमाला)

देवी—(अपवार्य) वच्छे कुवलअमाले, पेच्छ अत्तगो भट्टिणो सिलिट्ठं महिलावेसं। (वत्से कुवलयमाले ! पश्याऽऽत्मनो भर्तुः श्लिष्टं महिलावेषम्।) [कुवलयमाला सम्मुखी हसति]

राजा—(स्वगतम्)

दिवस इवास्मि सताप सेन्दुर्वदनेन रात्रिवच्चैषा।
इदमपि चान्तररचितं रक्तांशुकमावयोः सन्ध्या॥ १५॥

देवी—अज्जउत्त, उग्घाडीअदु मुहं स्स, उदेदु भवणगब्भे चंदो। (आर्यपुत्र ! उद्घाट्य मुखमस्याः उदेतु भवनगर्भे चन्द्रः।)

राजा—(उपविश्य तथा कृत्वा स्वगतम्)

नयनच्छलेन सुतनोर्वदनजितशशिनि मुखे विभोर्वाधात्।
नासानालनिबद्धं स्फुटितमिवेन्दीवरं द्वेधा॥ १६॥

देवी—वत्से मिअंकावलि, कुण तारामेलअं, वित्थारअ कुवलअसंथरं। (वत्से मृगाङ्कावलि ! कुरु तारामेलनम्, विस्तारय कुवलयसंस्तरम्।)

देवी—(ढँककर) वत्से कुवलयमाले ! अपने पति द्वारा गृहीत महिलावेष देखो। (कुवलयमाला उसकी ओर मुख करके हँसती है)

राजा—(स्वगत)

मैं तापयुक्त दिन-सा हूं और यह मुख के कारण चन्द्रयुक्त रात्रि की भाँति है। हम दोनों के बीच यह लाल वस्त्र सन्ध्या की भाँति है॥ १५॥

देवी—आर्यपुत्र ! इसका मुख खोलो, भवन के भीतर चन्द्रमा उदित हो जाय।

राजा—(बैठकर वैसा करके स्वगत)

(इस सुन्दरी के) मुख से पराजित चन्द्रमा में, कुलप्रभु (चन्द्रमा) के (इस पराजय के) व्याघात के कारण, नेत्रों के बहाने मानो नासारूपी नाल से जुड़े हुए दो नीले कमल विकसित हो गये हैं॥ १६॥

देवी—वत्से मृगाङ्कावलि ! तारामेलन करो, कमल (नेत्रों) को फैलाओ।

मृगां०—(लज्जावशादितस्ततश्चक्षुषी निधाय चिरमूर्ध्वमवलोकयति)।

राजा—(विलोक्य स्वगतम्)—

भवनभुवि सृजन्त्स्तारहारावतारं
दिशि दिशि विकिरन्तः केतकानां कुरम्बम्।
वियति विरचयन्तश्चन्द्रिकां मुग्धमुग्धां
बत नयननिपाताः सुभ्रुवो विभ्रमन्ति ॥ १७ ॥

विदूषकः—(जनान्तिकेन) एसा सा कुवलअमाला तुमं तिरिच्छेहिं अच्छीहिं पिअदिव्व। (एषा सा कुवलयमाला त्वां तिर्यग्भिरक्षिभिः पिबतीव।)

राजा—एवमेतत्—

प्रणालीदीर्घस्य प्रतिकलमपाङ्गस्य सुहृदः
कटाक्षव्याक्षेपाः शिशुशफरफालप्रतिभुवः।
दधानाः सर्वस्वं कुसुमधनुषोऽस्मान् प्रति सखे!
नवं नेत्राद्वैतं कुवलयदृशः संदधति च ॥ १८ ॥

मृगाङ्कावली—(लज्जावश इधर-उधर आँखें घुमाकर देर तक ऊपर की ओर देखती है।)

राजा—(देखकर स्वगत)

भवनभूमि पर मुक्ताहार का सृजन करते, प्रत्येक दिशा में केतकी पुष्प-राशि बिखेरते एवं आकाश में गौर मनोहारिणी चन्द्रिका विरचित करते हुए इस सुन्दरी के नेत्र घूम रहे हैं—प्रीति-द्योतक हाव-भाव कर रहे हैं ॥ १७ ॥

विदूषक—(जनान्तिक से) कुवलयमाला तुमको तिरछे नेत्रों से पी-सी रही है।

राजा—हाँ ऐसा ही है—

नीले कमल के समान नेत्रवाली इस सुन्दरी के नालों की भाँति लम्बे अपाङ्ग के मित्र कटाक्षों के व्याक्षेप शफरी मछली के बच्चों के समान हैं। इसके नवीन नेत्र अनुपम हैं। ये कटाक्ष, कामदेव के सर्वस्व नवीन अनुपम नेत्र को (बाण की भाँति) धारण कर, हमें लक्ष्य बनाकर सन्धान कर रहे हैं ॥ १८ ॥

किं पुनः परकलत्रमेषा ।

विदूषकः—लेहासत्तिए तुह एव्व एसा । (रेखा-शक्त्या तवैवैषा ।)

देवी—(जनान्तिकं कुवलयमाला प्रति) पेच्छ अत्तणो भत्तारं अज्ज-उत्तेण परिणिज्जमाणं । (प्रकाशं) संपदं भामरीओ कुणउ महाराओ, दिज्जंतु अज्जपज्जलिदे हुदवहम्मि लाजाओ । (पश्याऽऽत्मनो भर्तारम् आर्यपुत्रेण परिणीयमानम् । साम्प्रतं भ्रामरीः करोतु महाराजः, दीयन्तामाज्य-प्रज्वलिते हुतवहे लाजाः ।)

राजा—(परिणीयोपविशति) ।

प्रतिहारी—(प्रविश्य) देव, देवीमादुलस्स चन्दवम्मस्स पहाणदूदेण सह अज्जभाउराअणो दुवारे चिट्ठदि । (देव ! देवीमातुलस्य चन्द्रवर्मणः प्रधानदूतेन सहाऽऽर्यभागुरायणो द्वारे तिष्ठति ।)

राजा—(देव्या मुखमवलोकयति)

देवी—अविलंविदं पविसदु । (अविलम्बितं प्रविशतु ।)

प्रतिहारी—(निष्क्रान्तः)

किन्तु यह तो पराई स्त्री है ।

विदूषक—रेखा की शक्ति से—भाग्यबल से तुम्हारी ही यह है ।

देवी—(कुवलयमाला से फुसफुसा कर) आर्यपुत्र द्वारा परिणीयमान अपने पति को देखो । (उच्चस्वर से) अब महाराज भाँवरें डालें, घृत से प्रज्व-लित अग्नि में लावा (खीले) डालें ।

राजा—(विवाह करके बैठता है)

प्रतिहारी—(प्रवेश करके) देव ! महारानी के मामा चन्द्रवर्मा के प्रधान दूत के साथ आर्य भागुरायण द्वार पर खड़े हैं ।

राजा—(महारानी का मुख देखता है ।)

देवी—अविलम्ब अन्दर आयें ।

प्रतिहारी—(चला गया)

(ततः प्रविशति भागुरायणो दूतश्च)

उभौ—जयतु जयतु त्रिलिङ्गाधिपो देवः ।

भागु—इतो लाटाधिपतेर्दूतः ।

राजा—उपविश ! निवेद्यतामपि कुशलं चन्द्रवर्मण ?

दूतः—देवानुग्रहेण

देवी—कुशलं मानुलाणीए हारलदाए ? (कुशलं मातुलान्या हारलतायाः ?)

दूतः—अथ किम् ?

देवी—अवि सुमेरदि मे गुरुजणो । (अपि स्मरति मे गुरुजनः ।)

दूतः—आत्मापि विस्मर्यते ? (देवीं प्रति) मातुलपुत्रजन्मना दिष्ट्या वर्धसे । (सर्वे हर्षं नाटयन्ति) संदिष्टं चास्मत्स्वामिना—

निःसूनुना प्राक् परिकल्पिताऽभून्मया मृगाङ्कावलिरेकपुत्रः ।
पुन्नावकञ्चच्छलनोऽथ सेयमानायिता वः सचिवोत्तमेन ॥ १९ ॥

(इसके बाद भागुरायण और दूत प्रविष्ट होते हैं)

दोनों—त्रिलिङ्गाधिप देव की जय हो ।

भागु०—इधर ये लाटाधिपति के दूत हैं ।

राजा—बैठो, चन्द्रवर्मा का कुशल क्षेम बताओ ।

दूत—आपके अनुग्रह से सम्यक् कुशल है ।

देवी—मामी हारलता कुशल से हैं ?

दूत—हाँ !

देवी—क्या मेरे गुरुजन मुझे स्मरण करते हैं ?

दूत—क्या अपने को भी भूला जाता है !

(देवी के प्रति) मामा के पुत्र-जन्म के लिए तुम्हें बधाई है । (सभी हर्ष का अभिनय करते हैं) हमारे स्वामी ने सन्देश दिया है—

पहले पुत्र-हीन होने से मैंने मृगाङ्कावली को पुत्र प्रसिद्ध किया, और तुम्हारे सचिव पुत्र-वेश में ही उसे यहाँ तुम्हारे पास ले आये ॥ १९ ॥

जातः सम्प्रति मे कुलैकतिलकः पुत्रस्तदेषा त्वया
भव्या कान्तिमती कलासु कुशला केलि-प्रिया नीतिभूः ।
दैवज्ञोदितचक्रवर्तिगृहिणीभावा मृगाङ्कावली
देया कस्यचिदिन्दुसुन्दरयशःपूतस्य पृथ्वीपतेः ॥ २० ॥

भागु०—(स्वगतम्) फलितं नो नीतिपादपलतया धिया ।

विदू०—(हस्तमुद्यम्य) भो दिण्णा परिणीदा अ एसा। किं ण पेक्खसि-पओट्ठसट्ठिदरत्तसुत्तकंकणं पिअवअस्सस्स मिअंकावलीए अ, मण्डिदं दीक्खिदं वरं इत्थिअं अ। [सर्वे विस्मयन्ते] (भो दत्ता परिणीता चैषा। किं न पश्यसि प्रकोष्ठसंस्थितरक्तसूत्रकंकणं प्रियवयस्यस्य मृगांकावल्याश्च। मण्डितं दीक्षितं वरं स्त्रियञ्च।)

देवी—(जनान्तिकम्) पेक्ख देव्व-दुव्विलसिदाइं। जं मए केलिक्कमेण अलिअं परिकप्पिदं तं सच्चत्तणेण परिणदं। भोदु एव्वं दाव। (प्रकाशम्) मादुलसन्देसमंतरेण वि मए परिणाविदा एव्व एसा। (पश्य दैव-दुर्विलसितानि। यन्मया केलिक्रमेणालीकं परिकल्पितं तत् सत्यत्वेन परिणतम्। भवत्वेवं तावत्। मातुलसन्देशमन्तरेणापि मया परिणायितैवैषा।)

अब मेरे एक कुल-तिलक पुत्र हो गया, अतः तुम इस सुन्दरी, कला-कुशला, केलि-प्रिया, नीतिज्ञ मृगाङ्कावली का विवाह चन्द्र के समान उज्ज्वल यश से पवित्र किसी राजा के साथ कर दो। इसके विषय में दैवज्ञों ने यह बताया है कि यह चक्रवर्ती की गृहिणी होगी ॥२०॥

भागु०—(स्वगत) हमारी नीति वृक्ष पर आरूढ बुद्धि-लता फलवती हो गई।

विदूषक—(हाथ उठाकर) अरे यह दे दी गई और विवाहित भी हो गई। क्या प्रियमित्र की और मृगाङ्कावली की कलाई में बँधे लाल डोरे के कङ्कण और सजाये-सँवारे एवं दीक्षित वर-वधू को देख नहीं रहे हो!

देवी—(फुसफुसाकर) दैव का नटखटपना तो देखो। जो कुछ मैंने विनोदार्थ झूठ-मूठ किया, उसे उसने सत्यरूप में परिणत कर दिया। अच्छा ऐसा ही सही। मामा के सन्देश के बिना भी मैंने इसका विवाह कर ही दिया।

दूतः—देवि, भवादृशीनां बुद्धयो यदृच्छयापि प्रवृत्ताः कार्यमनुरुन्धानाः परिणमन्ति।

विदू०—(जनान्तिकेन) भो, देवी एव्व पुरो ववसिदा। (भो देव्येव पुरो व्यवसिता।)

राजा—तथैव। अनुगुणं हि दैवं सर्वस्मै स्वस्ति करोति।

देवी—(जनान्तिकेन) हला अह्मे कज्जवाहिरिल्लीओ, एदाणं उण साणुबंधाणं रसपपंचो। (हला, वयं कार्यबाह्याः, एतयोः पुनः सानुबन्धयो रसप्रपञ्चः।)

मेखला—जधा एव्व देवीए महानुभावत्तणं अंगीकिदं तह एव्व णिव्वाहं करीअदु। किं गदे सलिले सेतु-बंधेण? कि वा वुत्ते विआहे णक्खत्त-परिक्खाए? (यथैव देव्या महानुभावत्वमङ्गीकृतं तथैव निर्वाहः क्रियताम्। किं गते सलिले सेतुबन्धेन। किं वा वृत्ते विवाहे नक्षत्रपरीक्षया?)

विदू०—अहो अमच्चचूडामणे, अहिणवचाणक्क, भअवं भाउराएण, एसा वि कुवलअमाला पिअवअस्सस्स एव्व, जदो महामुणिणो एव्वं भणंति—(अहो अमात्यचूडामणे! अभिनवचाणक्य! भगवन् भागुरायण! एषापि कुवलयमाला वयस्यस्यैव। यतो महामुनय एवं भणन्ति)

दूत—देवि! आप ऐसी देवी की बुद्धि अपनी मनमानी में प्रवृत्त होकर परिणामतः अनुकूल सिद्ध होती है।

विदूषक—(फुसफुसाकर) अरे देवी पहले ही तत्पर हो गई।

राजा—हाँ, ऐसा ही है। अनुकूल दैव सबका कल्याण करता है।

देवी—(फुसफुसाकर) अरे, हम तो केवल कार्य के साधन हैं, इसमें वास्तव में अविच्छिन्न एवम् परस्पर अनुबद्ध इनका प्रेम-विस्तार मुख्य है।

मेखला—महारानी ने जैसे महानुभावता अङ्गीकार किया है, वैसे ही इसका निर्वाह भी करें। पानी के न रहने पर पुल बाँधना व्यर्थ है अथवा विवाह हो जाने पर नक्षत्र देखना बेकार है।

विदूषक—हे अमात्यशिरोमणे! अभिनव चाणक्य! भगवन् भागुरायण! यह कुवलयमाला भी मित्र की ही है। क्योंकि महामुनि लोग कहते हैं—

भज्जा दासो अपुत्तो अ णिद्धणा सअला वि ते ।
जं टे समभिगच्छन्ति जस्स दे तस्स तं घणं ॥ २१ ॥
(भार्या दासश्च पुत्रश्च निर्धनाः सकला अपि ते ।
यं ते समभिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥ २१ ॥)

दूतः—अहो ! स्मृति-वैशद्यं नर्मसचिवस्य चारायणस्य ।

भागु०—यथाह चारायणः । किं न्वनेनैव कङ्कणादिना देवी परिणाययत्येनामपि ।

विदू०—जह समत्थेदि महामच्चो । (यथा समर्थयते महामात्यः ।)
(कुवलयमालाया हस्तं गृहीत्वा राजहस्ते विनिवेश्य) एसा सालभज्जा अद्धभज्जत्ति बुज्झदि भवदो उण सअल-भज्जा संवुत्ता । [सर्वे हसन्ति ।]
(एषा श्यालभार्या अर्धभार्येति बुध्यते, भवतः पुनः सकलभार्या संवृत्ता ।)

देवी—(सविलक्षं स्मयते)

विदू०—(चेटीः प्रति) भोदीओ ! णच्चध, गायध अहं पि णच्चिस्सं गाइस्सं । जदो विआहे संपदं संवुत्तं । [तथा कुर्वन्ति] (भवत्यो नृत्यत गायत, अहमपि नर्तिष्याभि गास्यामि च, यतो विवाहे सांप्रतं संवृत्तम्)

भार्या, दास और पुत्र ये सब बेचारे निर्धन जिसके पास जाते हैं और जिसके हो जाते हैं, उसके वे धन होते हैं ॥ २१ ॥

दूत—अहो, क्रीडा सचिव नारायण की स्मरण शक्ति की स्वच्छता

भागु०—चारायण ठीक ही कह रहे हैं, क्यों न इसी कङ्कण आदि से देवी कुवलयमाला को भी ब्याह दें ।

विदूषक—(कुवलयमाला का हाथ पकड़कर राजा के हाथ पर रखकर) यह साले की पत्नी आधी भार्या समझी जाती है और आपकी तो यह पूर्ण भार्या हो गई ।

देवी—(विस्मय एवं लज्जापूर्वक मुस्कराती है)

विदूषक—(दासियों से) आप लोग गाइये, नाचिये । मैं भी गाऊँगा और नाचूँगा क्योंकि विवाह अब सम्पन्न हो गया ।

मृगां०—(अश्वार्य सहर्षम्) कुवलअमाले ! परिरभसु मं, कलत्तं भविअ सवत्ती संवुत्ता । (कुवलयमाले ! परिरंगस्व मां, कलत्रं भूत्वा सपत्नी संवृत्ता ।)

मागु०—(दक्षिणाक्षिस्पन्दं सूचयित्वा जनान्तिकेन) न जाने किं पुनर्हर्ष-कारणम् ।

(प्रविश्य) प्रतिहारी—देव ! वच्छाहिव ! सेणावदिणो आअदो कुरंगओ लेहहत्थओ दुआरे चिट्ठइ । (देव ! वत्साधिप ! सेनापतेरागतः कुरंगको लेखहस्तो द्वारे तिष्ठति ।)

मागु०—प्रवेश्यताम् ।

प्रतिहारी—तथा । (निष्क्रान्ता)

ततः प्रविशति कुरङ्गकः । (प्रणम्य) जेदु भट्टा । (जयतु भर्ता)—
(लेखं प्रक्षिपति ।)

मागु०—(गृहीत्वा वाचयति)

स्वस्ति श्रीमत्त्रिपुर्यां तुहिन-कर सुतावीचिवाचालितायां
देवं केयूरवर्षं विनयनतशिराः सर्वसेनाधिनाथः ।

मृगाङ्कावली—(ढाँककर सहर्ष) कुवलयमाले ! मुझे हृदय से लगाओ, पत्नी होकर अब सपत्नी हो गई ।

मागु०—(दाहिनी आँख का फड़कना सूचित कर फुसफुसाते हुए) न जाने अब दूसरा हर्ष का कौन सा कारण होगा ।

प्रतिहारी—(प्रवेश कर) हे वत्साधिप देव ! सेनापति के पास से आया हुआ कुरंगक हाथ में पत्र लिए द्वार पर खड़ा है ।

मागु०—अन्दर ले आओ

प्रतिहारी—बहुत अच्छा (निकल गया)

(इसके बाद कुरंगक मञ्च पर आता है) (प्रणाम करके) स्वामी की जय हो ।
(पत्र देता है)

मागु०—पत्र लेकर बाँचता है ।

नर्मदा नदी के लहरों से प्रतिध्वनित त्रिपुरी नगरी में केयूरवर्ष महाराज को, सेनापति श्रीवत्स वात्सगुल्मि विनयपूर्वक शीश झुकाकर सुरज चर्नों को

श्रीवत्सो वात्सगुल्मिर्मुरजजनवधूलोचनैरर्च्यमाने
पादद्वन्द्वारविन्दे प्रणमति रचयन्नञ्जलिं मूर्ध्नि भक्त्या ॥ २२ ॥

श्रेयोऽन्यत्कार्यं च लिख्यते—भलचुरिकुलैकतिलकस्य प्रसादेन, भागुरायणस्य मतिवैशद्येन मादृशां च पदातिलवानामादेशनिर्वहणेन प्राचीप्रतीच्युदीचीदिग्विलग्नेन सर्व एव राजानश्चण्डवृत्तयो दण्डोपनताः स्थिताः, केवलमवाचीक्षिति-पतयो दृप्यन्ति स्म। तत्रापि विनिवेद्यते। तत्तुल्यापहृतराज्यः कुन्तलाधिपतिर्वीरपालो नाम देवं शरणमागतो देवादेशाच्च तं पुरस्कृत्य वयं पयोष्णी-परिसरे समावासिताः। तत्र च—

कार्णाटो युद्धनाट्ये चतुरतरमतिः सिंहलः सिंहकर्मा,
पाण्ड्यश्चण्डासियष्टिर्मलयनरपतिः कार्मुकप्रौढबाहुः।
आन्ध्रो नीरन्ध्रसारः समरभुवि परः कुन्तलः कुन्तशाली,
किं चान्यत् कोङ्कणाद्या अपि नरपतयः संगताः संघतिम् ॥२३॥

अत्रान्तरे तैः सहास्मदीयानामपि महान् संरम्भः प्रवृत्तः।

राजा—समरभुवि निसर्गोद्धता एव कण्टकाः।

वधूटियों के लोचनों से अर्चित होने वाले दोनों चरण कमलों में सिर पर अञ्जलि बाँधकर भक्तिपूर्वक, प्रणाम करता है ॥ २२ ॥

यहाँ पर कुशल है और कार्य लिखा जा रहा है—कल्चुरि कुल के तिलक महाराज की कृपा से, भागुरायण की बुद्धि की विशदता से एवं मुझ जैसे अकिञ्चन पदातियों के आदेश-पालन से पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशाओं में रहने वाले सभी दुराचारी राजा दण्डित किए गए। केवल दक्षिण दिशा के राजा अभी गर्वित हैं। उनके बारे में भी निवेदन कर रहा हूँ—कुन्तलाधिपति वीरपाल आपकी शरण में आया। उसका राज्य अपहृत कर लिया गया है। आपकी आज्ञा से उसको आगे करके हम पयोष्णी के तट पर रहे। वहाँ युद्ध के नाटक में चतुरमति वाला कर्णाट देश का राजा, सिंहल का राजा सिंहकर्मा, पाण्ड्य का राजा, प्रचण्ड तलवार वाला मलय देशाधिपति; ये कार्मुक विद्या में निपुण हैं। आन्ध्र देश बड़ा ही बलशाली है, कुन्त से युक्त कुन्तल पृथ्वी में अद्वितीय है। कोंकण आदि देश के राजा भी एक दूसरे से मिल गए ॥ २३ ॥

इसी बीच में उन सबों के साथ हमारे सैनिकों का महान् संघर्ष हुआ।

राजा—स्वभाव से ही वीर समरभूमि के कण्टक हैं।

भागु०—वाचयति तत्र च—

प्रेयान् मे दन्तिदन्तप्रवसदसुरयं वल्लभो मे विपक्षः
कुन्तप्रोतोऽपि योऽयं सरति मम रुचिरताण्डवीयः कबन्धः ।
अत्रास्मत्प्रेमबद्धभ्रुकुटिमुखमिदं यस्य लूनेऽपि कण्ठे
युद्धे देवाङ्गनानामिति वर-वरणे न श्रुताः केन वाचः ॥ २४ ॥

किं च बहुना तान्विजित्यास्माभिः स्वराज्ये वीरपालोऽभिषिक्तः शेषः कुरंगकमुखादेवावगन्तव्यः ।

कुरं०—देव पट्टए घट्टस्स वि मे मुहे अत्थि ण वाणी । (देव, पट्टके घृष्टस्यापि मे मुखेऽस्ति न वाणी ।)

राजा—लेखमुखा एव लेखवाहा भवन्ति ।

भागु०—तदधुना

आ गंगापातपूतप्लुतनलिनतलातपूर्वतस्ताम्रपर्ण्या
पूतादा दाक्षिणात्यात् तुहिनकरसुता वल्लभादा प्रतीचः ।
नृत्यच्चण्डीशशुण्डाच्युतविबुधनदीनन्दितादा च देवः
क्षीराम्भोधेरुदीचः खलचुरितिलको वर्तते चक्रवर्ती ॥ २५ ॥

भागु०—पढ़ता है । और वहाँ

कुन्त से गुँथा हुआ होने पर भी जो कबन्ध मेरी रुचि के अनुसार ताण्डव कर रहा है, कण्ठ के कट जाने पर भी हमारे प्रेम से जिसने अपनी भौंहों को टेढ़ा कर रखा है, इस प्रकार ऐसा शत्रु हमारा प्रिय है जिसका प्राण हमारे हाथियों के दाँतों से निकल गया है।' इस प्रकार वरण करने के लिए आयी हुई अप्सराओं का वार्तालाप किसने सुना है ॥ २४ ॥

और अधिक क्या, उनको जीतकर स्वराज्य में हमारे द्वारा वीरपाल का अभिषेक किया गया है और शेष कुरंगक के मुख से सुनिये ।

कुरंगक—पट्ट पर रगड़ने पर भी मेरे मुख से बात नहीं निकल सकती ।

राजा—पत्र-वाहक का मुख पत्र ही होता है ।

भागु०—तो इस समय

पश्चिम में गंगा जी के उद्‌गम से लेकर पूर्व में ताम्रपर्णी तक, पवित्र दक्षिण प्रदेश से पश्चिमी समुद्र तक और शंकर जी की जटाओं से गिरी हुई गंगा जी के द्वारा अभिनन्दित उत्तरी क्षीरसागर तक कलचुरितिलक ही चक्रवर्ती सम्राट् हैं ॥ २५ ॥

(राजानं प्रति अञ्जलिं बद्ध्वा) किं ते भूयः प्रियमुपहरामि ।

राजा—अतः परमपि प्रियमस्ति ?

देवीकोपकषायितं न गमिता लब्धा मृगाङ्कावली
प्रागूढापि मयाद्य सा कुलपतेः पुत्री च पाणौ कृता ।
युष्मन्नीति-बलेन तस्य च महासेनापतेर्विक्रमैः
संजाता मम चक्रवर्ति-पदवी किन्नाम यत् प्रार्थये ॥ २६ ॥

तथापीदमस्तु (भरतवाक्यं)

यामाङ्गं पृथुलस्तनस्तबकितं यावद्भवानीपते-
र्लक्ष्मीकण्ठपरिग्रहव्यसनिता यावच्च दोष्णां हरेः ।
यावच्च प्रतिमाप्रसारणविधिव्यग्रौ करौ ब्रह्मणः
स्थेयासुः श्रुतिशुक्तिलेह्यमधुरास्तावत् सतां सूक्तयः ॥ २७ ॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे)

इति श्रीमद्बालकविकविराजराजशेखरविरचितायां
विद्धशालभञ्जिकानाटिकायां चतुर्थोऽङ्कः
नाटिका च समाप्तिमगात् ।

(राजा के प्रति हाथ जोड़कर) आपको पुनः क्या प्रिय उपहार दूँ !

राजा—इससे भी बढ़कर कोई प्रिय है ?

रानी कोप से विकृत नहीं हुई और मृगाङ्कावली मिल गई । पहले से विवाहित कुलपति की वह पुत्री हाथ में कर ली गई है । तुम्हारी नीति-बल से और सेनापति के विक्रम से मुझे चक्रवर्ती की पदवी मिली । अब वह कौन सी वस्तु है, जिसकी प्रार्थना करूँ ॥ २६ ॥

फिर भी यह हो । (भरत वाक्य)

जब तक शिव जी का वामाङ्ग पीन स्तनों से स्तबकित है, भगवान विष्णु की भुजाओं में लक्ष्मी के आलिंगन का उद्योग है, ब्रह्मा के दोनों हाथ अपनी प्रतिमा के प्रसार के लिए व्यग्र हैं, तब तक कानों की सीपी में चाटने योग्य, सज्जनों की मधुर सूक्तियाँ अमर रहें ॥ २७ ॥

(सभी चले जाते हैं ।)

समाप्तश्चायं ग्रन्थः

परिशिष्टम्

पात्रालोचन

१. विद्याधरमल्ल

नाटिका के विधानानुकूल सम्राट् विद्याधरमल्ल इस नाटिका का धीरललित नायक है। इसमें तथाविध नायक के सभी गुण विद्यमान हैं। यथा—

यह अत्यन्त ही शृंगारी है। मृगाङ्कावली के प्रति आसक्ति रखते हुए भी वह पहली रानी के प्रति अपने व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आने देता। इसका स्वभाव अत्यन्त मृदु है एवं यह गीतादि में अनुराग रखता है। भागुरायण मंत्री के ऊपर राज्य-भार छोड़ देने से राज्य की चिन्ता से मुक्त रहता है। विद्याधरमल्ल के प्रेम में जो उन्मादकता है वह जगत्-[illegible] हुई है, जो आस्वाद्य है।

२. विदूषक

नायक का मित्र चारायण (विदूषक) इस नाटिका का प्राण है। नाटिका में इसका मुख्य कार्य विनोद-दान ही है। यह अपने वेश, रूप एवं भाषण आदि के द्वारा हास्य की अभिव्यक्ति करता है। यह राजा के साथ भी मज़ाक करने में नहीं चूकता। ब्राह्मण जाति का होने से यह स्वभावतः पेटू एवं मधुरप्रिय है। इसे अपने मान-अपमान का भी सदैव ध्यान रहता है। बदला लेने की भावना भी इसमें पर्याप्त मात्रा में है। 'मेखला' द्वारा मिथ्या-विवाह की घटना से अपमानित होने पर यह बड़ी ही बुद्धिमत्ता से उसके साथ बदला चुकाता है।

३. मृगाङ्कावली

मृगाङ्कावली इस नाटिका की नायिका है। यह अनुपम सौन्दर्य से युक्त है। नायक प्रथम दर्शन में ही इसके प्रति अनुरक्त हो जाता है। यह भी नायक

को अपनी ओर आकर्षित करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रखती। इसीलिए ही इसने झूले पर नायक को अपना दर्शन दिया, केलिकैलास नामक वासगृह की स्फटिकमय दीवालों पर अपना तथा अपने रूप से सर्वथा मिलती-जुलता शालभञ्जिका का चित्र चित्रित कराया।

४. विचक्षणा

विचक्षणा एक चतुर दासी है, यह सदा नायक-नायिका के हित-अहित का ध्यान रखती है। इस पर सब विश्वास रखते हैं। इसीलिए विद्याधर का मंत्री भागुरायण आदरपूर्वक इससे राजा के गोपनीय कार्य के करने में सहायता की याचना करता है। राजा के गोपनीय कार्य को सम्पादित करने के लिए ही यह मृगाङ्कावली की प्रियसखी बन जाती है तथा राजा का काम बनाने के लिए तैयार रहती है और इस कार्य में उसे पूर्ण सफलता भी मिलती है।

टिप्पणी (नोट्स)

प्रथम अङ्क

१—विद्धशालभञ्जिका (पृ. १)—इस नाटिका के रचयिता द्वारा नाटिका का नाम 'विद्धशालभञ्जिका' रखा गया है। नाटिका के कथानक मे उसके रचयिताने केलिकैलास नामक वासगृह के स्फटिकमय खम्भे में नायिका की शालभञ्जिका (मूर्ति) जो विद्धा (छेनी से खोद-खोद कर बनाई गई) है— की योजना की है और नायक, नायिका की इस मूर्ति को पहिचान कर उसे हार पहिनाता है। इस स्थल से नायक का प्रेम-प्रसार और आगे बढ़ता ही जाता है अतः नाटिका के नामकरण का उपयुक्त आधार उसी शालभञ्जिका (मूर्ति) को रचयिता ने समझा और नाटिका को उपर्युक्त (विद्धशालभञ्जिका) संज्ञा प्रदान की।

२—अङ्क (पृ. १)—धनञ्जय के मतानुसार अङ्क में नायक के चरित का प्रत्यक्षरूप से निबन्धन होता है एवम् इसमें बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति की प्राप्ति होती है। अंक में नाटकीय अर्थ को सम्पादित किया जाता है तथा यह रस का आश्रय भी होता है।

प्रत्यक्षनेतृचरितो बिन्दुव्याप्तिपुरस्कृतः।
अङ्को नानाप्रकारार्थसंविधानरसाश्रयः॥

अंक का शाब्दिक अर्थ है—गोद, क्रोड एवम् उत्सङ्ग आदि।

बिन्दु, नायक के व्यापार तथा रसादि से अधिष्ठित यह उनके लिए उत्सङ्ग अथवा गोद का सा काम करता है अतः इसे अंक कहा जाता है।

रंगप्रवेशोसाक्षान्निर्दिश्यमाननायकव्यापारो बिन्दूपक्षेपार्थपरिमितोऽनेकप्रयोजन-संविधान-रसाधिकरण उत्सङ्ग इवाङ्कः।

३—सूत्रधार (पृ. १)—भारतीय नाट्यशास्त्र के अनुसार नान्दी पाठ के अनन्तर खेले जाने वाले नाटक की प्रस्तावना सुनाने वाला, नाटक

अभिनय करने वाले नट-वर्ग का प्रधान नेता, नाट्य के सारे सूत्र का कार्य-सञ्चालन करने वाला एवं नाट्यशाला का व्यवस्थापक सूत्रधार कहा जाता है।

४—सुधा (पृ. ४)—'सुष्टु धीयते पीयते अर्प्यते सुधा' सुधा की उत्पत्ति समुद्र-मन्थन से हुई थी। विष्णुपुराण में इसका प्रसंग आया है।

५—कामधेनुः (पृ. ४)—कामधेनु स्वर्ग की गाय है जो सब कामनाओं को पूरी करने वाली मानी जाती है।

'न केवलानां पयसां प्रसूतिः अवेहि मां कामदुहां प्रसन्नाम्' (रघुवंश) यह भी समुद्र-मन्थन से निकली थी।

६—षड्गुणाः (पृ. ५)—राजनीति के छः गुण माने गये हैं—सन्धि, विग्रह, यान (चढ़ाई), आसन (विश्राम), द्वैधीभाव और संश्रय।

७—मन्त्रबीजम्—(पृ. ५)—किसी मन्त्र का प्रथमाक्षर मन्त्रबीज कहा जाता है। इसे मूलमन्त्र भी कहते हैं। मन्त्र की सिद्धि और उसकी सफलता इसी पर निर्भर होती है।

८—विष्कम्भक (पृ.८)—'विष्कम्नाति अनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः।' स्मृति के द्वारा कथाभाग को पुष्ट बनाने वाला विष्कम्भक है। इसमें उन्हीं बातों का समावेश किया जाता है जिनको नाटक के अङ्कों में दिखलाया नहीं जा सकता। विष्कम्भक के दो भेद हैं—शुद्ध एवं संकीर्ण। शुद्धविष्कम्भक में सभी मध्यम पात्र होते हैं और वे सभी पात्र संस्कृत बोलते हैं संकीर्ण विष्कम्भक में अधम पात्र भी रहते हैं।

९. शृङ्गार (पृष्ठ १८)—'शृङ्गार' शब्द की रचना 'शृंग' तथा 'आर' इन दो शब्दों के योग से हुई है। 'शृंग' का अभिप्राय है—काम का उद्रेक एवं 'आर' शब्द गत्यर्थक है। आचार्य विश्वनाथ के अनुसार कामदेव के उद्भेद को 'शृङ्गार' कहते हैं।

समस्त रसों में शृङ्गार रस अत्यन्त कमनीय है। यह रसराज की संज्ञा से अभिहित किया गया है। क्योंकि इसका आनन्द प्रत्येक सहृदय एवं असहृदय, व्यक्ति तथा समस्त है। इसी के स्थायीभाव रति का ही व्यापार जगत् के सभी प्राणियों में है।

१०. मदनायुधम् (पृष्ठ २७)—मदन कामदेव का नाम है। ये परम-रूपवान् माने गये हैं। पुराणों में इनके आयुध निम्न बताये गये हैं—

अरविन्दमशोकञ्च चूतञ्च नवमालिका।
नीलोत्पलञ्च पञ्चैते पञ्चबाणस्यसायकाः॥

उपर्युक्त पाँच आयुध पुष्प जति के हैं। गुण-कर्म से मदन के आयुध निम्न हैं—

उन्मादनस्तापनश्च शोषणः स्तम्भनस्तथा।
संमोहनश्च कामस्य पञ्च बाणाः प्रकीर्तिताः॥

द्वितीय अङ्क

११. चेटी (पृष्ठ ३३)—चेटी का अर्थ है—दासी विशेष। जो रहस्य को छिपा सकने में समर्थ, देश एवं काल आदि को समझने वाली तथा अहंकार और चपलतारहित होती है।

'गुप्ता दक्षा मृदुस्थिराः।'

'गुप्ता रहस्यधारणसमर्था। दक्षा देशकालसमयादिविद्। मृद्वचोऽनहंकृताः। स्थिराश्चापलवर्जिता।'

१२. प्रवेशकः (पृष्ठ ३६)—विष्कम्भक की सभी बातें 'प्रवेशक' में पायी जाती हैं। केवल इतना ही अन्तर है कि इसमें अधम पात्रों का ही प्रयोग होता है जो प्राकृत बोलते हैं और यह दो अंकों के बीच में ही पाया जाता है।

१३, ध्रुव १४. एवं सप्तर्षिमण्डल (पृष्ठ ४०)—ध्रुव उत्तानपाद राजा के पुत्र थे। अपनी सौतेली माँ सुरुचि से अपमानित होकर ये तपस्या के लिए वन चले गये और एक वृक्ष के नीचे बैठकर ईश्वर का ध्यान करने लगे। बीच-बीच में अनेक विघ्न पड़े किन्तु ध्रुव को कोई बाधा विचलित न कर सकी। सभी परीक्षाओं में ध्रुव सफल हो गये। इनकी सभी अभिलाषाएँ पूरी हो गईं। अपनी मनोःकामना पूर्ण होने के पश्चात् ध्रुव पुनः माता के पास लौटे और अन्त में राज्य के उत्तराधिकारी भी बने।

आकाश में उत्तर की ओर एक छोटा सा तारा टिमटिमाता हुआ दिखाई देता है। यह तारा अपना स्थान कभी नहीं बदलता। पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव से

ठीक ऊपर आकाश में यह तारा इसलिए अटल है कि ध्रुव अपनी प्रतिज्ञा पर अटल थे।

सप्तर्षियों का नाम भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न पाया जाता है। महाभारत (१२, ३३५, २९) के अनुसार मरीचि, अत्रि, अङ्गिरस, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु तथा वसिष्ठ सप्तर्षि हैं।

विवाह के समय वर-कन्या को ध्रुव तथा सप्तर्षि-मण्डल दिखाये जाने की प्रथा है। संभवतः इस प्रकार वर-कन्या पारस्परिक प्रेम को स्थिर एवं अचल बनाए रखने की प्रेरणा प्राप्त करें—यही इस प्रथा में उद्देश्य निहित है।

१५. हरिणाङ्क (पृष्ठ ५२)—द्वितीय अंक के श्लोक १८ में चन्द्रमा के लिए हरिणांक शब्द का प्रयोग किया गया है। संभवतः यह शब्द चन्द्र-मण्डल में बने हुए काले धब्बे की ओर संकेत करता है क्योंकि यह धब्बा हिरन के समान आकार वाले एक चतुष्पदीय पशु की आकृति का है तथा पूर्णचन्द्र में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। चन्द्रमा के लिए 'शशांक' एवं 'मृगांक' शब्द का भी प्रयोग इसी प्रकार है।

तृतीय अङ्क

१६. दशदिशा (पृष्ठ ७५)—पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर ये चार मुख्य दिशाएँ हैं। पूर्व और दक्षिण के बीच का कोना 'आग्नेय', दक्षिण और पश्चिम के बीच का कोना 'नैर्ऋत्य', पश्चिम और उत्तर के बीच का कोना 'वायव्य', उत्तर और पूर्व के बीच का कोना 'ईशान' ये चार उपदिशाएँ हैं। इनके अतिरिक्त ऊर्ध्व (ऊपर) और अधः (नीचे) ये दो दिशाएँ और मानी जाती हैं। इस प्रकार कुल दश दिशाएँ हुईं।

चतुर्थ अङ्क

१७. दोहद (पृष्ठ १०७)—गर्भिणी की इच्छा या अभिलाषा को दोहद कहते हैं। कविसमय के अनुसार विभिन्न वृक्षों के विकसित होने के लिए विभिन्न विधान हैं। ये ही उन वृक्षों के दोहद कहलाते हैं। यथा—'सुन्दरी के छूने से प्रियङ्गु, पान की पीक डालने से मौलसिरी, लात मारने से अशोक, देखने से तिलक, गाने से आम एवं नाचने से कचनार फूलता है।'

१८. जनान्तिक (पृष्ठ ११२)—नाटक में आपस में बात करने की एक मुद्रा, कर-संकेत से एक व्यक्ति को बुलाकर धीरे-धीरे बात करना 'जनान्तिक है।

१९. दक्षिणाक्षिस्पन्द (पृष्ठ ११७)—पुरुषों के लिए दायें अङ्ग तथा स्त्रियों के लिए बायें अङ्ग का स्पन्दन शकुन माना जाता है। इसके द्वारा प्रिय-प्राप्ति का अनुमान किया जाता है। 'नेत्रे नेत्रप्रियाः प्राप्ताः।

पुनश्च अङ्गस्फुरण के विषय में वसन्तराजीय में लिखा है—

पुंसां सदा दक्षिणदेहभागे स्त्रीणां तु वामावयवे प्रजातः।
स्पन्दः फलानि प्रदिशत्यवश्य निहन्त्यनुक्ताङ्गविपर्ययेण॥

२०. भरतवाक्य (पृष्ठ १२०)—नाटक का आशीर्वादात्मक अन्तिम गान 'भरतवाक्य' कहा जाता है। रूपक के अन्त में इसकी रचना अवश्य करनी चाहिए।

२१. लक्ष्मी (पृष्ठ १२०)—कमल की विकसित पखुड़ियों पर आसीन लक्ष्मी समुद्र मन्थन से निकली थीं। ये धन की देवी हैं। इनकी उत्पत्ति का वर्णन विष्णुपुराण तथा महाभारत में मिलता है। तदनुसार लक्ष्मी ने भगवान् विष्णु का वरण किया और उन्हें अपना पति बनाया।

सुभाषितानि

'अनुगुणं हि दैवं सर्वस्मै स्वस्ति करोति ।'

'आकृतिमनुगृह्णन्ति गुणाः ।'

'कथमिव सहकारयन्द्रुमां कलकण्ठी कुण्ठितप्रणया भवति ।'

'कथमिव जीवतः छुकलासाच्छिरः सुवर्णं प्राप्यते ।'

'किं गते सलिले सेतुबन्धेन ? किं वा वृत्ते विवाहे नक्षत्रपरीक्षया ?'

'न खलु अनुत्पीडितः सहकारपृष्ठग्रन्थिः रस-सर्वस्वं मुञ्चति ।'

'न प्रेम नव्यं सहतेऽन्तरायम् ।'

'न खलु मृगलाञ्छनम् उज्झित्वाऽन्येन शशिकान्तपुत्रिकावद्धनिर्झरा प्रहृष्यति ।'

'न विना चन्द्रं शेफालिकाया विकसन्ति कुसुमानि ।'

'न हि स्नेहो युक्तायुक्तमनुरुणद्धि ।'

'यदरिष्टमधिरूढा कारवल्ली-वल्लरी किमुच्यते कटुकार्यं प्रति ।'

'छैलसुरा एव छैलवाहा भवन्ति ।'

'वरं तत्कालोपनतस्तित्तिरिः, न पुनर्दिवसान्तरितो मयूरः ।'

'शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः ।'

'श्रुतमन्त्रसंरक्षणं खलु कार्यसिद्धेः कारणम् ।'

नाटकीया विषयाः

स्वगतम् — 'स्वगतं स्वहृदि स्थितम्' ।

प्रकाशम् — 'प्रकाशं श्राव्यमन्येषाम्' ।

अपवारितम् — 'परावृत्य रहस्याख्याऽन्यस्मै तदपवारितम्' ।

जनान्तिकम् — 'त्रिपताकान्तरोऽन्येन, जल्पो यस्तज्जनान्तिकम्' ।

आकाशोक्तिः — 'आकाशोक्तिः स्वयंप्रश्न-प्रत्युत्तरमपात्रकम्' ।

नेपथ्यम् — 'नर्तनं वेषपरिग्रहस्थानम्' ।

नाटिका — 'चतुरङ्का बहुस्त्रीका, नृपेशा स्त्री-महीफला ।
कल्प्यायां कैशिकी मुख्या, ...' ॥

× × ×

'प्रेमार्द्रों वर्तनेऽन्यस्यां, नेता मुख्याऽभिशङ्कितः ।
देवी दृप्ताऽपरा मुग्धा, समधर्मा द्वयोः पुनः' ॥

अङ्क — 'अवस्थायाः समाप्तिर्वा छेदो वा कार्ययोगतः ।
अङ्कः सबिन्दुर्द्व्यर्थः चतुर्यामो मुहूर्ततः' ॥

नान्दी — 'देव-भूप-सभा-भर्तृ-मुख्यानां मङ्गलाभिधा ।
नित्या रूपमुखे नान्दी, पदैः षड्भिरथाष्टभिः' ।

सूत्रधारः — 'नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयते यस्तु सूत्रधारः स उच्यते' ॥

प्रस्तावना — 'विदूषक-नटी-मार्षैः, प्रस्तुताक्षेपिभाषणम् ।
सूत्रधारस्य वक्रोक्ति-स्पष्टोक्तैर्यत् तदामुखम्' ॥

विष्कम्भकः — 'विष्कम्भात्यनुसन्धानेन वृत्तमुपष्टम्भयतीति विष्कम्भकः' ।

— 'अप्रत्यक्षान् अर्थान् सामाजिकहृदये प्रवेशयतीति प्रवेशकः' ।

— 'त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता' ॥

विदूषकः — 'विदूषको हास्यनिमित्तं भवति' ।

बीजम् — 'स्वल्पोद्दिष्टः फलप्राप्तः, हेतुर्बीजं प्ररोहणात्' ।

विन्दुः — "हेतोश्छेदेऽनुसन्धानं, बहूनां बिन्दुराफलात्' ।

कार्यम् — 'साध्ये बीजसहकारी कार्यम्' ।

पञ्चावस्थाः — 'आरम्भ-यत्न-प्राप्त्याशा-नियताप्ति-फलागमाः ।
नेतुर्वृत्ते प्रधाने स्युः, पञ्चावस्था ध्रुवं क्रमात्' ॥

पञ्चसन्धयः — 'मुखं प्रतिमुखं गर्भावमर्श-निर्वहणान्यमी ।
सन्धयो मुख्यवृत्तांशाः, पञ्चावस्थाऽनुगाः क्रमात्' ॥

पात्र-परिचय

पुरुष-पात्र

१.	सम्राट् विद्याधरमल्ल	: उज्जयिनी का स्वामी : नाटक-नायक
२.	सूत्रधार	: नाटकाभिनयप्रबन्धक
३.	चारायण	: विदूषक, राजा का मित्र
४.	हरदास	: राजा के मंत्री भागुरायण का शिष्य
५.	भागुरायण	: सम्राट् विद्याधरमल्ल का मंत्री
६.	कुरङ्गक	: सम्राट् विद्याधरमल्ल का पत्र-वाहक
७.	दूतद्वय	: लाटाधिपति के दो दूत

स्त्री-पात्र

१.	देवी	: राजा की प्रथम पत्नी
२.	मृगाङ्कावली	: लाटप्रदेश के अधिपति चन्द्रवर्मा की पुत्री : नायिका
३.	कुवलयमाला	: कुन्तलदेश के राजा चण्डमहासेन की कन्या
४.	मेखला	: देवी की धात्री की कन्या
५.	पुष्करमाला	: विदूषक की पत्नी
६.	कुरङ्गिका	: देवी की चेटी
७.	तरङ्गिका	: " " "
८.	सुलक्षणा	: " " "
९.	विचक्षणा	: देवी की चेटी : मृगाङ्कावली की प्रिय सखी